श्री मार्कण्डेय पुराण

तच्छुद्धं विमलं
विशोकममृतं
सत्यं परं धीमहि
भागवत १२/१३/१९

अठारह पुराणों की शृंखला में श्री मार्कण्डेय पुराण सातवां पुराण है, जो गुणानुसार रजोगुण प्रधान है। इसके सुनने-पढ़ने से सौ करोड़ कल्पों के किए पाप भी नष्ट हो जाते हैं। शुद्ध मन से किया गया इस पुराण का सम्पूर्ण पाठ, चारों वेदों के पाठ की पूर्णता के बराबर है। यही वह पुराण है जिसे सुनकर जैमिनी ऋषि को परम ज्ञान प्राप्त हुआ था और उनकी ऐसी समस्याओं का भी समाधान हो गया था जिनका हल महाभारत जैसे महाग्रन्थ में भी नहीं मिल सका। यह लीजिए, इस अमूल्य ग्रन्थ-रत्न का सर्वप्रथम प्रामाणिक संस्करण जिसका सम्पादन डाक्टर सतीशचन्द्र जोशी ने अपनी पूर्ण धार्मिक आस्था, श्रद्धा एवं आस्तिक भावना के साथ किया है।

श्री मार्कण्डेय पुराण

सम्पादक

डा० सतीशचन्द्र जोशी 'व्योमेश'
एम० ए० डी० लिट्०

पुस्तकालय कोष्ठक शिक्षा विभाग
उत्तर प्रदेश के सौजन्य से [redacted]

धर्मग्रन्थ प्रकाशन
एफ-17, कमलानगर, दिल्ली-110007

Rs 150

मुख्य वितरक
जीवन ज्योति प्रकाशन
3014, चर्खेवालान, दिल्ली-110006

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक
धर्मग्रन्थ प्रकाशन
कमलानगर, दिल्ली-110007

संस्करण : 1990

[redacted]

मुद्रक
आर० के० प्रिंटर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

श्री मार्कण्डेय पुराण

एक समय महर्षि वेदव्यास के महातेजस्वी शिष्य जैमिनी ने मुनिश्रेष्ठ मार्कण्डेय जी से कहा—हे भगवान् ! महर्षि वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत एक सर्वज्ञान-सम्पन्न, सभी वेद-वेदांगों का सारभूत, काव्यांग से सुशोभित एक अत्यन्त कर्णमधुर रचना है। उसमें सभी प्रश्नों के उत्तर व सभी जिज्ञासाओं का समाधान है। यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का प्रदाता है, पर इतना सब होने पर भी मैं उसके यथार्थ अर्थ को नहीं जान पाया हूं। निर्गुण वासुदेव ने सगुण रूप क्यों धारण किया तथा द्रौपदी को पांच पतियों की पत्नी क्यों बनना पड़ा, आदि बातें मैं नहीं समझ पाया हूं। हे भगवान् ! महाभारत से सम्बन्धित इन्हीं शंकाओं का निराकरण कराने हेतु मैं आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूं। आप मेरे इन भ्रमों को दूर करने की कृपा करें।

जैमिनी के वचन सुनकर परमज्ञानी सर्वदोषरहित श्री मार्कण्डेय जी ने कहा—मैं सन्ध्या-वन्दनादि के लिए उद्यत हूं, अतः मेरे पास इतना समय नहीं है कि मैं सविस्तार ये बातें तुम्हें बतला सकूं, किन्तु मैं तुम्हें निराश नहीं करूंगा, अतः दिशा-निर्देश करता हूं। तुम विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं में पक्षीरूप में तपस्यारत एवं सर्वशास्त्र-पारंगत, पिंगाक्ष, विबोध तथा सुमुखपुत्र—जो पक्षीरूप में विन्ध्यपर्वत की कन्दराओं में तपस्यारत हैं एवं सर्वशास्त्र-पारंगत द्रोणपुत्रों पिंगाक्ष, द्रोणपुत्र, विबोध तथा सुमुख प्रभृति महात्माओं के पास जाओ। वे तुम्हारे सभी संदेह व भ्रम दूर करेंगे। मार्कण्डेय जी के कथन को सुनकर जैमिनी ऋषि ने जानना चाहा कि पक्षी होकर भी द्रोणपुत्र मनुष्यों की वाणी में शास्त्रोपदेश कैसे कर सकते हैं तथा वे द्रोणपुत्र क्यों कहे जाते हैं ?

मार्कण्डेय जी बोले—वत्स ! प्राचीनकाल में एक बार देवराज इन्द्र नन्दन वन में अप्सराओं के साथ विहार कर रहे थे। उस समय देवर्षि नारद भी वहां जा पहुंचे। उन्हें देखते ही देवराज सहित सभी अप्सराओं

ने भी उनका स्वागत एवं अभिवादन किया। तदुपरान्त वे परस्पर वार्तालाप करने लगे। वार्तालाप के मध्य में ही इन्द्र ने नारद जी से कहा—मुनिश्रेष्ठ! आप इन अप्सराओं—रम्भा, मिश्रकेशी, उर्वशी, मेनका, वपु, तिलोत्तमा—में से जिसे भी नृत्य करने की आज्ञा देंगे वही यहां अपनी कला का प्रदर्शन करेगी। नारद जी कुछ देर सोचने के बाद बोले—हे अप्सराओ ! तुम में से जो भी सर्वाधिक रूपवती, उदार व गुणवती हो, हावभाव आदि में पारंगत हो, वह अपना नृत्य प्रारम्भ करे। इतना सुनते ही अप्सराओं में हलचल मच गई। वे सभी स्वयं को एक-दूसरी से अधिक सुन्दरी व गुणवती समझती थीं, अतः प्रथम नृत्य करने हेतु उनमें विवाद उठ खड़ा हुआ। इस विवाद का अन्त करने के विचार से देवराज ने देवर्षि से निवेदन किया कि वे स्वयं जिसे सर्वाधिक योग्य समझें उसे नृत्य करने की आज्ञा प्रदान करें।

नारद जी ने कहा—हे अप्सराओ ! तो मैं उसे ही सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी व रूपवती तथा विदग्धा स्वीकार करूंगा जो हिमालय के प्रान्तर में तपस्यारत ऋषिश्रेष्ठ दुर्वासा को अपनी कला-चातुरी तथा कटाक्ष-निक्षेप से मुग्ध कर, उन्हें तप से विचलित कर सके।

यह सुनते ही सभी अप्सराएं कांपने लगीं और वे हताश-सी हो गईं, परन्तु वपु नाम की एक अभिमानिनी रूपगर्विता अप्सरा को अपनी कला पर अडिग विश्वास था। वह इससे पूर्व भी अनेक तपोरत ऋषि-मुनियों का तप भंग कर चुकी थी। उसने देवर्षि को विश्वास दिलाया कि मैं दुर्वासा को अपने रूप-यौवन से काम-विह्वल कर तपभ्रष्ट कर दूंगी। इतना कहकर वह दुर्वासा के आश्रम की ओर चल पड़ी।

ऋषि के आश्रम में दिव्य आध्यात्मिक शान्ति विद्यमान थी। हिंस्र जन्तु भी अपने सहज वैरभाव को भुलाकर परस्पर आनन्दपूर्वक विचरण कर रहे थे। लताद्रुम, जड़-जंगम सब में सत्त्वगुण व्याप रहा था। वपु ने आश्रम में पहुंचकर एक कोस की दूरी से ही अपने कोकिल कंठ से मादक गायन प्रारम्भ कर दिया जिसके प्रभाव से सभी चराचर मन्त्र-मुग्ध-से हो गये। ऋषि के कर्ण-कुण्डरों में भी जब यह मादक संगीत पड़ा तो वे भी तनिक विस्मित-विचलित हुए। वे उसी दिशा को बढ़ चले जिधर से संगीत-लहरी प्रवाहित हो रही थी। वहां पहुंचकर उन्होंने जो कुछ देखा, उसने उनकी क्रोधाग्नि में आहुति का काम किया। उन्हें यह विचारते बिलम्ब न लगा कि वह अप्सरा उनका तपोभंग करने हेतु ही आई है। इस विचार के उत्पन्न होते ही ऋषि ने शाप देते हुए कहा—

हे पापिष्ठे ! तूने मेरे जप, तप तथा संयम को भंग करने की दुश्चेष्टा की है, अतः तू अभी पक्षिणी बन जा। ऋषि का क्रोध इतने से भी शान्त नहीं हुआ। वे आगे बोले—दुष्टे ! तुझे चार पुत्रों की प्राप्ति होगी, किन्तु उनके प्रति तेरी ममता नहीं होगी। जब अप्सरा ने बहुत अनुनय-विनय की तो ऋषि ने अपने शाप में थोड़ा संशोधन करते हुए कहा कि सोलह वर्ष के उपरान्त किसी शस्त्र के आघात से तुझे पक्षी योनि से मुक्ति मिलेगी और पुनः तू स्वर्ग में स्थान पायेगी। बस, सम्बन्ध में अब और अधिक उत्तर-प्रत्युत्तर मत करो। इतना कहकर, दुर्वासा जी उस आश्रम को त्यागकर परम-पावनी आकाश-गंगा को चले गये।

मार्कण्डेय ऋषि ने इतना वृत्तान्त सुनाने के उपरान्त जैमिनी जी से कहा—हे ऋषिवर! अब मैं आपको यह बतलाता हूं कि किस प्रकार वपु के गर्भ से पक्षी-पुत्रों का जन्म हुआ और वे क्यों द्रोणपुत्र कहलाए।

अरिष्टनेमि के पुत्र महाबली पक्षीराज गरुड़ थे। उनके पुत्र का नाम सम्पाति था। सम्पाति के पुत्र सुपार्श्व और उनके पुत्र कुन्ति तथा कुन्ति के पुत्र प्रलोलुप हुए। इन्हीं प्रलोलुप को दो परम पराक्रमी पुत्रों कंक और कन्धर की प्राप्ति हुई।

कंक भ्रमणशील प्रकृति का था, अतः एक दिन भ्रमण करते हुए वह कैलाश पर्वत जा पहुंचा। उस समय वहां पर कुबेर का एक अनुचर विद्युद्रुप राक्षस अपनी भार्या के साथ भोग-विलास में रत था। कंक को वहां देखकर अपने रति-विलास में बाधा आने से उसके क्रोध का पारावार न रहा और उसने क्रुद्ध होकर कंक को बहुत भला-बुरा कहा। कंक ने जब उस पर्वत पर अपने अधिकार की बात कही तो काम तथा क्रोधान्ध राक्षस ने अपने खड्ग से उस पक्षी का शिरच्छेद कर दिया।

कंक के अनुज कन्धर को अपने अग्रज की मृत्यु का हृदय-विदारक समाचार सुनकर क्षोभ (शोक तथा क्रोध) उत्पन्न हो आया। अपने भाई की अन्त्येष्टि अग्नि से निवृत्त होकज कन्धर अग्रज की मृत्यु का बदला लेने के विचार से विद्युद्रुप के निकट जा पहुंचा। वह इतनी तीव्र गति से उड़ा कि पर्वत तक कम्पित हो गए और उसके क्रोधपूर्ण उच्छवास ने प्रभंजन को भी लज्जित कर दिया। मद्यपान व भोगविलास-रत, स्वर्ण-पर्यंकशायी, चन्दन-चर्चितकाया वाले निशाचर को देखते ही पक्षिराज ने उसे ललकारा। ललकार सुनते ही राक्षस क्रोधाविष्ट होकर संग्राम हेतु सन्नद्ध हो गया। इन्द्र व गरुड़ के पुराकालीन युद्ध की स्मृति कराने वाले उस द्वन्द्व युद्ध में राक्षस ने पक्षिराज कन्धर पर घोर खड्ग से घातक

प्रहार किया, किन्तु पक्षिश्रेष्ठ ने खड्ग को अपनी चोंच में पकड़कर खण्ड-खण्ड कर डाला। अपने चंचु से राक्षस के वक्ष पर मरणान्तक आघात करके कन्धर ने उस राक्षस का प्राणापहरण कर लिया। यह देखकर राक्षस की भार्या—मदनिका—ने भयाक्रान्त होकर कन्धर को पतिरूप में वरण कर लिया। अपने भाई की मृत्यु का बदला लेकर और मदनिका को भार्यारूप में ग्रहण करके कन्धर सन्तुष्ट भाव से अपने घर को लौट आया।

मदनिका मेनका की पुत्री थी तथा इच्छानुसार रूप धारण कर सकती थी। इसी के गर्भ से वपु अप्सरा ने जन्म ग्रहण किया और वह तार्क्षी नाम से पुकारी गई।

वपु ने जिस प्रदेश में पक्षीरूप में जन्म लिया था, उन्हीं दिनों उस क्षेत्र में मदपाल नामक एक ब्राह्मण भी निवास करता था, जहां उसके चार पुत्रों में कनिष्ठतम द्रोण था। इसी वेद-वेदांग-पारंगत द्रोण से तार्क्षी का विवाह हुआ। गर्भवती तार्क्षी संयोगवश कुरुक्षेत्र की ओर उड़ चली। उस समय वहां घोर महाभारत छिड़ा हुआ था। भगदत्त तथा परम-पराक्रमी अर्जन में तुमुल युद्ध हो रहा था। संयोग से सव्यसाची अर्जुन का एक तीर तार्क्षी को आकर लगा और उसने उसकी कुक्षी का भेदन कर डाला। फलतः तार्क्षी के गर्भस्थ चार अण्डे भूमि पर आ गिरे, किन्तु दैवकृपा से नष्ट नहीं हुए। ठीक उसी समय भगदत्त के सुप्रतीक नामक गज के गले में बंधा घंटा गिर पड़ा और उसने उन चारों अण्डों को ढक लिया। महाभारत का युद्ध चलता रहा किन्तु उन अण्डों को कोई क्षति नहीं पहुंची। निश्चित काल में उनमें से चार पक्षी शावक निकल आये और उनका कलरव भी सुनाई पड़ने लगा। इतनी विषम परिस्थितियों में भी उन पक्षी शावकों की प्राण-रक्षा हो जाना विस्मय की बात अवश्य थी, किन्तु विश्वनियन्ता के लिए सब-कुछ सम्भव है और उसी के प्रताप से यह अद्भुत कार्य भी हुआ।

एक दिन सिद्ध महर्षि शमीक अपने कुछ शिष्यों व अनुगामी द्विज-मण्डली सहित उधर से जा रहे थे तो पक्षियों का कोलाहल सुन उन्हें किंचित आश्चर्य हुआ। उन्होंने घंटा उठाकर वहां जो कुछ देखा उससे विधाता की विलक्षण लीला के प्रति वे किंकर्तव्यविमूढ़-से हो गये। अपने शिष्यों को इस विषय में बहुत कुछ बतलाने के उपरान्त उन्होंने उन्हें आदेश दिया कि उन पक्षी शावकों को आश्रम में ले जाकर सुरक्षित रख दिया जाये। महर्षि बोले हे—द्विजगण! अधिक सावधानी की कोई आव-

श्यकता नहीं है, क्योंकि जीवमात्र अपने कर्म से ही रक्षित अथवा नष्ट होते हैं, तथापि सभी कार्यों में यत्न अपेक्षित होता है अन्यथा पुरुषार्थ-हीन व्यक्ति साधु-समाज में निन्दा का पात्र ही बनता है। यह कहकर मुनिश्रेष्ठ शमीक ने वन की राह ली और शिष्यगण शावकों को ले आश्रम में लौट आये। तदुपरान्त शमीक ऋषि भी समिधा आदि लेकर आश्रम को लौट आये और उन्होंने वेदोक्त विधि से विभिन्न देवताओं का पूजन किया।

महर्षि जैमिनी को इतना वृत्तान्त सुनाने के उपरान्त मार्कण्डेय जी ने कहा—हे विप्रश्रेष्ठ ! अब तक मैं आपके दो प्रश्नों का उत्तर दे चुका हूं। अब आगे का प्रसंग कहता हूं। आप ध्यानपूर्वक सुनें।

मुनि के आश्रम में वे पक्षी शावक दिन-दूनी व रात-चौगुनी गति से बढ़ने लगे और एक ही माह में विस्तीर्ण गगन में विचरण करने में सक्षम हो गये। इस विश्व को देख-देख कर पक्षियों की तथा पक्षियों को देख-देखकर आश्रमवासियों को विस्मय, हर्ष व कौतुहल होता था। मुनि के सान्निध्यलाभ से उन शावकों के ज्ञान में भी निरन्तर वृद्धि होती जा रही थी। अन्ततः एक दिन जब शमीक ऋषि अपने शिष्यों से प्रसन्न हो उनके प्रति धर्मोपदेश कर रहे थे तो उन पक्षियों ने ऋषि को सादर प्रणाम कर इस प्रकार निवेदन किया—हे मुनिराज ! आप ने हम पर अतिशय कृपा की है। हमारी प्राणरक्षा कर आपने हम मातृहीन तथा पिता द्वारा उपेक्षितों का पालन-पोषण कर हमें आत्मीयता तथा वात्सल्य ही नहीं प्रदान किया है, अपितु आपने हमें ज्ञान भी प्रदान किया है, अतः आप ही हमारे माता, पिता तथा गुरु हैं। आप हमें आदेश करें कि अब हम क्या करें ? आपकी आज्ञा का पालन कर हम धन्य हो जायेंगे । पक्षियों को इस प्रकार मानव वाणी में ऐसे उदात्त भावयुक्त वचन कहते हुए देख-सुनकर मुनि तथा उनके शिष्यों को अति विस्मय हुआ और उन्होंने पुलकित हो उनसे अपना परिचय देने को कहा। इस पर पक्षियों ने उन्हें बतलाया प्राचीन काल में विपुलस्वान नामक मुनि के—सुकृष्ण और तुम्बरु नामक दो पुत्र थे। जिनमें सुकृष्ण परमज्ञानी तथा जितेन्द्रिय थे और हम उन्हीं सुकृष्ण के पुत्र थे। हम सदा उनकी सेवा में रत रहते थे। इस प्रकार हमारे दिन बड़े सुख से व्यतीत हो रहे थे कि तभी एक दिन एक विराट आकार का वृद्ध पक्षी आश्रम में आया। वह शिथिल व विक्षिप्त-सा था। पिताजी से वार्ता करते हुए उसने कहा—मुनिवर ! मैं विन्ध्यपर्वत के शिखर चूड़ का वासी हूं तथा पक्षिराज गरुड़ के पंखों की वायु के झोंके

से यहां आ पहुंचा हूं। मैं एक सप्ताहपर्यन्त मूच्छित रहने के बाद आज आठवें दिन आपके आश्रम में आया हूं। मैं क्षुधार्त्त हूं और अब आप ही मेरे प्राणों की रक्षा कर सकते हैं। आप मुझे भोजनार्थ नर-मांस देने की कृपा करें।

तब हमारे पिताजी ने उन्हें बतलाया—हे पक्षि राजश्रेष्ठ! जरावस्था में ऐसी इच्छा करना ठीक नहीं है। इस अवस्था में तो पुण्य वृत्तियुक्त सदाचरण करना ही उपयुक्त होता है। शैशव व यौवन के समान आपकी यह वृद्धावस्था भी नहीं रहेगी। फिर आप हिंसामूलक पाप कर्म में क्यों प्रवृत्त होते हैं ? हमारे पिताजी के इस उपदेश पर पक्षी ने जब कोई ध्यान नहीं दिया तो पिताजी ने हमें बुलाया और हमारे पुत्र तथा शिष्य के कर्त्तव्यों का बोध कराने के रूप में हमें उपदेश देते हुए हमें अपना शरीर उस पक्षी के हेतु अर्पण कर देने की प्रेरणा हमें दी, किन्तु प्राणों के प्रति मोह के कारण हमने पिता की अवज्ञा कर दी और उनके सामने जीवन तथा प्राण का महत्त्व प्रतिपादित करने लगे। इससे पिताजी ने क्रोधाभिभूत होकर हमें शाप दे दिया—तुम तिर्यक (उल्टी बुद्धि वाले होने के कारण)—पक्षी—योनि में जन्म लोगे। यह शाप देकर हमारे पिताजी ने स्वयं को उस पक्षी के भोजनार्थ समर्पित कर दिया। इस पर पक्षी बोला—मैं जीवित प्राणी का मांस-भक्षण नहीं करता। तब पिताजी योग बल से अपने प्राण त्यागने को सन्नद्ध हुए। उनके इस संकल्प को देखकर पक्षी ने अपना वास्तविक रूप प्रकट करते हुए कहा—हे तपोनिष्ठ सत्याचरणशील द्विजश्रेष्ठ ! मैं इन्द्र हूं। मैंने आपकी परीक्षा लेने हेतु ही यह सब व्यापार किया है। आप मुझे क्षमा करें। मैं आपके सत्याचरण तथा त्याग से अति प्रसन्न हूं और वरदान देता हूं कि आज से आपको ऐन्द्र-ज्ञान होगा और आपके तप आदि में कभी कोई विघ्न नहीं पड़ेगा। यह कहकर देवराज वहां से चले गये।

इन्द्र के चले जाने के उपरान्त हमने पिताजी के चरणों में प्रणाम किया और निवेदन किया—पूज्य तात ! यह शरीर क्षणिक है। रक्त-मज्जा एवं अस्थि आदि से निर्मित प्राण के कोटरूपी इस शरीर के प्रति अज्ञानी जन लोभ के वशीभूत हो मोहग्रस्त हो जाते हैं। हम भी उसी मोहवश आपकी अवज्ञा कर बैठे। हमें क्षमा कीजिये तथा तिर्यक योनि में हमारे जन्म के शाप को मिथ्या कर दीजिए। इस पर पिताजी ने कहा—नहीं, यह सम्भव नहीं है। मैंने आज तक मिथ्या वचन नहीं कहा है, अतः मेरा कोई वचन मिथ्या नहीं हो सकता है। हां, तुमने क्षमा-

याचना कर मुझे प्रसन्न किया है, अतः पक्षी होने पर भी तुम्हारा ज्ञान लुप्त नहीं होगा और तुम मानव वाणी में बोल सकोगे। उस शाप के फलस्वरूप ही हम पक्षी बने हैं और आपके द्वारा इस नक्षत्र में ही हमारे तन, मन तथा ज्ञान का विकास हुआ है। अब आप हमें आज्ञा दीजिए कि हम क्या करें। उन पक्षियों का यह वृत्तान्त सुन शमीक ऋषि बोले—मुझे तो प्रारम्भ से ही यह अनुभव हो रहा था कि तुम शापित द्विजपुत्र ही हो। अब तुम परम पावन एवं रमणीक विध्यान्चल के तरुशाखाओं में वास करो और लोक-कल्याण हेतु ज्ञान का वितरण करते रहो। मुनि के वचनों का पालन कर वे ही पक्षी विन्ध्यपर्वत पर निवास कर रहे हैं तथा वे ही आपकी सभी शंकाओं का निवारण करेंगे।

ऋषिश्रेष्ठ मार्कण्डेय के वचनों का अनुसरण करते हुए महर्षि जैमिनी विन्ध्याचल की ओर चल पड़े। वहां पहुंचने पर जब उन्होंने पक्षियों का वेदपाठ सुना तो वे विस्मय-विमुग्ध हुए बिना न रह सके। वे विस्मित भाव से कन्दरा में ज्यों ही प्रविष्ट हुए, त्यों ही उन्होंने उन पक्षियों को पाषाण खण्ड पर बैठे वेदपाठ करते हुए पाया। उन्हें अपना परिचय देते हुए जैमिनी ऋषि ने प्रणाम निवेदन के उपरान्त अपने आने का प्रयोजन बतलाया। ऋषि बोले—द्विजश्रेष्ठ! महाभारत से सम्बन्धित कुछ शंकाओं का निवारण करने हेतु मैं परमज्ञानी महर्षि मार्कण्डेय जी के निकट गया था, किन्तु उन्होंने मुझे आपके पास भेजा है। हे द्विजश्रेष्ठ ! अब आप ही मेरी शंकाओं का निवारण कीजिए।

महर्षि जैमिनी के पाद-पद्मों की वन्दना करके, उनके दर्शनों से स्वयं को कृतार्थ मानते हुए उन पक्षियों ने कहा—भगवन्! यह सत्य है कि हम वेदों के तत्व तथा सभी धर्मशास्त्रों के ज्ञाता हैं, तथापि हम इस बात का दम्भ नहीं कर सकते कि हम आपकी सभी शंकाओं का समाधान करने में समर्थ हैं। फिर भी आप बतलायें, आप क्या जानना चाहते हैं। हम यथासाध्य उनका उत्तर देने का प्रयत्न करेंगे।

इस पर जैमिनी ने कहा—द्विजश्रेष्ठ ! मेरी शंकाएं निम्नोक्त रूप से हैं :—

१. जो निर्गुण ब्रह्म सब कारणों के कारण हैं तथा समस्त ब्रह्माण्ड के आधार हैं उन्होंने नर-रूप धारण क्यों किया ?
२. एक द्रौपदी पांच पाण्डवों की रानी कैसे और क्यों बनी ?
३. परम पराक्रमी हलायुद्ध बलराम जी तीर्थयात्रा करते हुए ब्रह्म-हत्या से किस प्रकार मुक्त हुए ?

४. महाबली तथा महारथी पाण्डवों के साथ होते हुए भी द्रोपदी के पुत्र अनाथों के समान मृत्यु को क्यों प्राप्त हुए ?

पक्षियों ने यह सुनकर कहा—महर्षे ! सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान भगवान् श्री विष्णुदेव को प्रणाम करके हम आपके सभी प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें।

श्री नारायण देव अपने गुणों से जिन चार मूर्तियो में अवस्थित हैं वे इस प्रकार हैं—

(१) वासुदेव मूर्ति (२) संकर्षण या शेष मूर्ति (३) प्रद्युम्न मूर्ति (४) अनिरुद्ध मूर्ति।

इनमें से तीसरी प्रद्युम्न मूर्ति ही प्रजा का पालन, अधर्म का उन्मूलन और धर्म की स्थापना करने वाली है। जब-जब धर्म का क्षय और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब यह मूर्ति विभिन्न रूपों में अवतरित होकर धर्म का उद्धार करती है। पुराकाल में इसी मूर्ति ने वराह-रूप धारण कर हिरण्याक्ष से पृथ्वी की रक्षा कर उसे जल से निकाला था। हिरण्यकशिपु का संहार करने हेतु इसी मूर्ति ने नृसिंह-रूप धारण किया। यह मूर्ति समय-समय पर अनेक रूपों में प्रकट होती हैं। उन सब रूपों का वर्णन कर पाना सम्भव नहीं है। इस समय यह मूर्ति मथुराधिपति महाराज कृष्ण के रूप में प्रकट हुई है। हे महामुनि! यह मूर्ति देव, मानव या तिर्यक (पक्षी) जिस किसी भी रूप में प्रकट होतो है, वासुदेव की इच्छानुसार उस-उस स्वभाव को ही ग्रहण करती है। यही कारण है कि श्री नारायण देव निर्गुण होने पर भी सगुण रूप में प्रकट होते हैं।

एक समय में त्वष्टा नामक प्रजापति का पुत्र महान् तपस्वी त्रिशिरा अधोमुख होकर तपस्या करने लगा। इन्द्र को भय हुआ कि उसके तप की सफलता से कहीं इन्द्रत्व-पद न छिन जाए, अतः उसने त्रिशिरा का वध कर दिया। इस ब्रह्महत्या से उसका तेज क्षीण हो गया तथा धर्म में समा गया। अपने पुत्र के वध का दुःसंवाद सुनकर त्वष्टा को अत्यन्त क्रोध हुआ। उन्होंने इन्द्र से बदला लेने के लिए अपने तेज का प्रयोग किया। अपनी जटा से एक बाल तोड़कर तथा उसे यज्ञकुण्ड में फेंक कर उन्होंने वृत्र नामक एक परम पराक्रमी व तपोगुणी राक्षस को उत्पन्न किया, जिसे ऋषि ने इन्द्र के वध का कार्य सौंपा। उस राक्षस के हाथों अपना निश्चित अन्त जानकर भयाक्रान्त इन्द्र ने मरीचि आदि सप्त-ऋषियों के माध्यम से वृत्रासुर से सन्धि करनी चाही। लोक-कल्याण में निरत ऋषियों के प्रयत्नों से यह सन्धि हो गयी, किन्तु इन्द्र ने पुनः संधि-

नियमों का उल्लंघन कर वृत्रासुर को मार डाला। इस हत्या से इन्द्र का बल नितान्त क्षीण हो गया और वायु में समा गया। इसके उपरान्त गौतम ऋषि की भार्या अहिल्या से छल करने के कारण भी इन्द्र का रूप-सौन्दर्य नष्ट हो गया तथा दोनों अश्विनीकुमारों में समा गया। इस प्रकार तेज, बल व रूपहीन इन्द्र से बदला लेने के लिए दानवों-असुरों ने उद्धत नरपतियों के रूप में पृथ्वी पर जन्म ग्रहण किया। उनके अन्यायों,अत्याचारों एवं दुराचारों से पृथ्वी व्यथित एवं संत्रस्त हो उठी। उसने देवताओं से निवेदन किया—हे देवगण ! कई अक्षौहिणी असुरों ने पृथ्वी के राजाओं के घरों में जन्म लिया है। मेरे लिए उनका भार असह्य हो गया है, अतः आप वही सब कुछ कीजिए जिससे मुझे इस यातनाओं से छुटकारा मिले। पृथ्वी की इस प्रार्थना से द्रवित होकर देवताओं ने नर-रूप में जन्म धारण किया। साथ ही इन्द्र के धर्मगत तेज से युधिष्ठिर, पवनगत तेजसे भीमसेन, सुरराज के आधे बल से अर्जुन व अश्विनीकुमारों में विद्यमान रूप तेज से नकुल व सहदेव का अवतरण हुआ। पुन: शची भी यज्ञाग्नि से द्रौपदी के रूप में प्रकट हुई। इस प्रकार एक इन्द्र ही पांच रूपों में प्रकट हुए और द्रौपदी उनकी भार्या बनी। इस प्रकार वास्तव में वह पंचपतिका होकर भी केवल एक इन्द्र की ही पत्नी थी।

महाभारत प्रारम्भ होने से पूर्व बलराम जी के मन में यह दुविधा उत्पन्न हुई कि मैं किस पक्ष का अनुमोदन करूं। अपने अनुज का अर्जुन के प्रति असीम अनुराग देखकर वे पाण्डवों के विरुद्ध नहीं लड़ सकते थे, क्योंकि कृष्ण के विरुद्ध दुर्योधन की ओर जाना नहीं चाहते थे और इधर दुर्योधन उनका शिष्य और जामाता भी था,अत: वे उसके विरुद्ध भी शस्त्र ग्रहण करने को इच्छुक नहीं थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने निश्चय किया कि वे तीर्थयात्रा पर निकल जायें और युद्धपर्यन्त कुरुक्षेत्र से ही दूर रहें। यह निश्चय कर उन्होंने अपनी सेना दर्योधन को सौंप दी और स्वयं तीर्थयात्रा को चल पड़े।

यात्रा करते हुए बलदेव जी द्वारिकापुरी के निकट पहुंचे तो वहां के हृष्ट-पुष्ट मानवों को देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। नगर प्रवेश करने से पूर्व उन्होंने मादक नीर का पान किया। इस मादक पान से मस्त होकर उन्होंने डगमगाते चरणों से रेवत उद्यान की ओर गमन किया। वह उद्यान विभिन्नों फलों से फलित, द्रुमों से सुशोभित, पक्षियों से कुंजित तथा नैसर्गिक छटा से युक्त था। वहां नाना प्रकार की सुगन्ध तथा विभिन्न वर्णों से युक्त पुष्पों की कमनीयता सहज ही मन को मुग्ध

करने वाली थी। यहां की रमणीयता वीतरागों को भी मोह लेने में सहज समर्थ थी। उससे अति मुग्ध हो बलराम जी वहां विराजमान होकर सरोवरों की शोभाश्री को निरखने लगे। क्रम-क्रम से उनकी सुन्दरता का अवलोकन कर वे एक अति रमणीक लता कुंज में प्रविष्ट हुए। वहां अनेक द्विजों—शृंगी, भरद्वाज, कुशिक, गौतम आदि—ऋषियों के वंशधर विराजमान थे, जिन्हें परमज्ञानी सूत जी हरिकथा सुना रहे थे। बलराम जी को देखते ही सभी ब्राह्मणों ने खड़े होकर उनका स्वागत-अभिवादन किया, किन्तु सूत जी अपने आसन पर विराजमान रहे। मदपान से भ्रष्ट-मति वाले बलराम जी ने इसे अपना घोर अपमान समझा और बिना विचारे ही उन्होंने सूत जी की हत्या कर दी। प्राण त्याग करते ही सूत जी ब्रह्मलोक में जा पहुंचे तथा खिन्नमना द्विजमण्डली ने भी तत्काल वह स्थल रिक्त कर दिया। यह देखकर बलराम जी को अति पश्चात्ताप हुआ। उन्होंने विचार किया कि मद्य-पान मानव को किस प्रकार से मदमत्त बनाकर उसके सब गुणों का अपहरण कर लेता है। इससे व्यक्ति में जिस साहस का विकास होता है, वह अन्याय व कदाचार का ही कारण बनता है। इसी के वशीभूत होकर मैंने यह क्रूर कर्म किया है। इसके प्रायश्चित्त हेतु मैं बारह वर्षपर्यन्त व्रत धारण कर लूंगा तथा अपने इस पाप कर्म को अधिकाधिक प्रचारित कर जग-उजागर करूंगा। इतना ही नहीं, इसका प्रायश्चित्त करने हेतु मैं अपनी इस तीर्थयात्रा के मध्य प्रतिलोमा सरस्वती में भी जाऊंगा। इस प्रकार पश्चात्ताप की अग्नि में जलते हुए बलराम जी प्रतिलोमा सरस्वती को चले गए तथा इस प्रकार वह ब्रह्महत्या से मुक्त हो गए।

जैमिनी जी की चतुर्थ जिज्ञासा का समाधान करते हुए पक्षी बोले—महर्षे! त्रेतायुग में हरिश्चन्द्र नामक एक परम पराक्रमी, प्रजावत्सल, महादानी तथा न्यायप्रिय राजा हुए। उस महान् भूपति के सुशासन के कारण चारों ओर सुख, शान्ति, न्याय व धर्म का प्रसार था। कोई किसी को सता नहीं सकता था। उनकी रानी का नाम शैव्या और पुत्र का नाम रोहित था। एक बार यही राजा वन में आखेट करते हुए विचरण कर रहे थे कि उन्हें किसी नारी का आर्त्त स्वर, 'रक्षा करो—रक्षा करो' सुनाई पड़ा। राजा ने शीघ्र ही सचेष्ट होकर आततायी को दण्ड देने के भाव से कहा—भयभीत मत हो, मैं हरिश्चन्द्र इस वन में आ पहुंचा हूं तथा अन्यायी-अत्याचारी को दण्ड देने में और आर्त्तजन की रक्षा करने में सहज समर्थ हूं। यह कहकर उन्होंने अपने धनुष पर बाण चढ़ा लिया।

सभी सदकार्यों में सदा विघ्न डालने वाले विघ्नराज ने यह देखकर सोचा कि इस वन में महान् तपस्वी विश्वामित्र जी तपोरत हैं और मैं उन्हीं को प्रताड़ित पीड़ित करके उनके कार्य में बाधा डाल रहा हूं, किन्तु इस नारी के 'रक्षा करो, 'रक्षा करो' आर्त स्वर को सुनकर यह महाप्रतापी राजा हरिश्चन्द्र उसकी रक्षा हेतु करबद्ध है। उधर परम तेजस्वी विश्वामित्र की तुलना में भी मैं अति तुच्छ तथा दीन हूं, अतः अपनी रक्षा हेतु मैं इसी हरिश्चन्द्र में प्रवेश कर जाता हूं विघ्नराज के राजा के शरीर में प्रवेश करते ही राजा और भी अधिक उद्धत भाव से आततायी को ललकारने लगे। उनके इन अभिमानपूर्ण एवं ललकार भरे वचनों को सुनकर तप भंग हो जाने से ऋषि विश्वामित्र अति क्रुद्ध हो उठे। क्रोधाभिभूत ऋषि को देखकर महाराज हरिश्चन्द्र पीपल के पत्ते के समान कांपने लगे। राजा ने मुनि के शाप-भय से व्याकुल होकर उन्हें विनीत भाव से प्रणाम किया और विनम्र स्वर में कहा—भगवन्! मैंने जो कुछ किया वही मेरा धर्म था। मैंने धर्म का त्याग व अधर्म का आचरण नहीं किया। पुनरपि मेरे इस कृत्य से आपके तप में बाधा पड़ी है, इसके लिए आप मुझे क्षमा करें। यह सुनकर विश्वामित्र बोले—राजन्! यदि तुम्हें धर्म का इतना ही ज्ञान है तो बतलाओ—

(क) दान किसे देना चाहिए ?
(ख) रक्षा किसकी की जानी चाहिए ? तथा
(ग) युद्ध किससे करना चाहिए।

इसका उत्तर देते हुए राजा ने कहा—

(क) व्रत-अनुष्ठान में सदा निरत सद् ब्राह्मण को ही दान देना चाहिए। वही इसका सुपात्र है।
(ख) भीत तथा कातर प्राणी की रक्षा करनी चाहिए, तथा
(ग) शत्रु से युद्ध करना ही धर्म है।

ऋषि बोले—राजन्! तुम्हारा कथन सत्य है। अब आप अपने कथनानुसार व्रत-अनुष्ठान में निरत मुझ मुमुक्षु ब्राह्मण की अभिलाषा (याचना) पूर्ण कीजिए। विश्वामित्र के इन वचनों को सुनकर राजा को अति आनन्द हुआ। वे सोचने लगे—यह मेरा अहोभाग्य है कि महर्षि विश्वामित्र मुझ से दान लेने को उद्यत हैं। फिर प्रकट रूप में बोले—महामुने! आप जो कुछ चाहें—रत्न, स्वर्ण, सागर पर्यन्त धरती—मैं सभी कुछ देने को तैयार हूं, आप आज्ञा कीजिए।

मुनि ने उत्तर दिया—जो कुछ तुम मुझे देना चाहो, उसे मेरे द्वारा

स्वीकार किया समझ लो, किन्तु इस समय तो मुझे केवल एक राजसूय यज्ञ की दक्षिणा मात्र दे दो। इस दक्षिणा में अपना सर्वस्व तथा सागर-पर्यन्त धरती मुझे दान में दो। राजा ने सहर्ष वह सब दान में दे दिया। हरिश्चन्द्र के द्वारा संकल्प करते ही, राज्य पर अपना स्वामित्व होने पर विश्वामित्र ने हरिश्चन्द्र को (अपना) राज्य छोड़कर अन्यत्र चले जाने का आदेश दिया और उनके सहमत होते ही उनसे दान की दक्षिणा मांगी। राजा ने कहा—प्रभो ! मैं अपना सब कुछ आपको अर्पण कर चुका हूं। अब अपने शरीर, पत्नी तथा पुत्र के अतिरिक्त, मेरे पास अपना कुछ भी नहीं है। मैं इन्हीं से एक माह के अन्दर आपकी दक्षिणा चुकानें का वचन देता हूं। इतना कहकर राजा नगर को लौट गये और पत्नी तथा पुत्र सहित अन्यत्र जाने को उद्यत हुए। उन्हें इस प्रकार राज्य से निष्कासित देखकर उनकी प्रजा इस प्रकार से विलाप करने लगी—हाय ! हमारे प्रजावत्सल, देवोपम राजा की आज यह दशा हुई, जिनके आगे-पीछे अनगिनत प्रहरी व रक्षक चला करते थे, जो सदा गजराज पर सवार होकर निकला करते थे, जनता-जर्नादन जिनका सदा जय-जयकार किया करती थी, आज वे ही नृपतिश्रेष्ठ पायपियादे ही पत्नी तथा पुत्र के साथ अनाथों के समान चले जा रहे हैं। हा दैव ! यह कैसी बिडम्बना है। नाथ ! जरा ठहरिये ना, आपके चरणारविन्दों का हम स्पर्श कर लें, उन्हें अश्रुजल से प्रक्षालित कर लें। न जाने फिर कब हमें आपके इन चरणकमलों के दर्शन का सौभाग्य सुलभ हो। अपनी प्रजा के इस हृदयद्रावक विलाप को सुनकर राजा द्रवित हो उठा। वे भी अश्रु बहाते हुए कुछ क्षण के लिए ठहर गये और उन रुदनरत विलाप करते जन-जन को धीरज बंधाने लगे। इसी समय ज्वालामुखी के समान भभकते, क्रोध की ज्वालायें सुलगाते मुनि विश्वामित्र आगे बढ़े और रोम-रोम को विदीर्ण कर देने वाले शब्दों के साथ घात करते हुए बोले—अरे दुरात्मा! नीच ! दम्भी ! यदि तुझे राज्य का इतना ही मोह था तो दानी बनने का दम्भ क्यों रचा ? दान देने के उपरान्त क्या तेरी नियत बदल गयी है ? अरे नराधम ! क्या राज्य को अपना समझकर अब हड़प लेना चाहते हो। नीच ! मैं तुझे शाप देता हूं। मुनि के ऐसे वज्र से भी अधिक कठोर वचन सुनकर राजा तृणवत् कांपने लगे और बोले – शान्त, मुनिराज ! शान्त। मैं अभी इस राज्य से जा रहा हूं। अब मैं निमिष भर के लिए भी यहां नहीं ठहरूंगा। यह कहकर वे शैव्या और रोहिताश्व के साथ द्रुत गति से चल पड़े। यद्यपि शैव्या अति तीव्र गति से चली जा रही थी तथापि

मुनि उसे उकेलते हुए और उस पर प्रहार करते हुए उसे और अधिक तेज चलने को बाध्य करने लगे। ऋषि के इस दुर्व्यवहार से राजा क्षुब्ध तो हुए किन्तु उन्होंने मुख से एक भी शब्द नहीं कहा। परम धर्मात्मा, न्यायी व नरश्रेष्ठ राजा के प्रति विश्वामित्र का ऐसा अत्याचारपूर्ण व्यवहार देखकर पांच विश्वेदेवों को अति क्लेश हुआ और वे कहने लगे—ऐसे धर्मात्मा राजा के प्रति इस प्रकार का व्यवहार करने वाले इस मुनि की भला क्या सद्गति होगी ! उसे कौन सा लोक प्राप्त होगा ? विश्वेदेवों के इन शब्दों ने विश्वामित्र की क्रोधाग्नि में घृत का कार्य किया और मुनि ने विश्वदेवों को भी शाप दे डाला। ऋषि बोले - हे नीच विश्वेदेवो! तुमने मेरे व्यापार में निष्प्रयोजन हस्तक्षेप किया है, अतः मैं तुम्हें मानव योनि में जन्म लेने का शाप देता हूं। यह सुनकर विश्वेदेवों को भी अति क्षोभ हुआ और उन्होंने मुनि विश्वामित्र की विनय-अभ्यर्थना करते हुए उनसे क्षमायाचना की। ऋषि ने उन्हें क्षमा करते हुए कहा—विश्वेदेवो ! मेरा वचन तो मिथ्या नहीं होगा। अपने किये का दण्ड तो तुम्हें भुगतना होगा। हां, मैं अपने शाप में इतना संशोधन करता हूं कि मानव-योनि में जन्म धारण करने पर भी तुम काम, क्रोधादि से मुक्त रहोगे और तुम्हें पत्नी, सन्तान आदि की प्राप्ति के प्रपंच में नहीं फंसना पड़ेगा। पक्षी बोले – ऋषिप्रवर ! मुनि विश्वामित्र के शाप से ग्रस्त पांच विश्वेदेव ही द्रोपदी के पांच पुत्रों के रूपों में पैदा हुए तथा अविवाहित एवं सन्तानहीन रहकर मृत्यु को प्राप्त हुए।

अपने प्रश्नों के उत्तर के अन्तर्गत राजा हरिश्चन्द्र का आख्यान सुन कर महर्षि जैमिनी ने मुग्ध भाव से कहा – हे पक्षीश्रेष्ठ ! आपने मेरे प्रश्नों का बड़ा ही सुन्दर उत्तर देकर मुझे आश्वस्त तथा संशयरहित कर दिया है। इस समय धर्मप्राण नरपति हरिश्चन्द्र के विषय में अधिक जानने की इच्छा मुझमें जागृत हो गयी है। अब कृपा करके उनका अधिक वृत्तान्त मुझे सुनाने का कष्ट करें।

ऋषि की उत्सुकता को देखकर पक्षियों ने प्रसंग को आगे बढ़ाते हुए इस प्रकार से कहना प्रारम्भ किया—अति क्रोधी विश्वामित्र द्वारा प्रताड़ित तथा अपमानित भार्या को लेकर राजा इधर-उधर भटकते हुए काशी नगरी की ओर चल पड़े। उन्हें निरन्तर यही चिन्ता सताये जा रही थी कि ऋषि की दक्षिणा समय पर कैसे चुकायी जाये। इसी चिन्ता में डूबे हुए वे त्रिशूलपाणि शिव की नगरी काशी में जा पहुंचे। वहां की मनोज्ञता तथा पावनता ने नरपति को मुग्ध कर लिया। इतना होने पर

भी उनके मन में चिन्ता का कांटा निरन्तर चुभ रहा था। तभी शूल के समान दुःखदायी विश्वामित्र ने प्रकट होकर राजा से दक्षिणा मांगी और न देने पर शाप देने की धमकी दी। उन्होंने राजा से कहा—सत्य से ही सूर्य में तेज है, सत्य ही धर्म का सार है और सत्य के अभाव में सब कुछ निस्सार है। मेरी दक्षिणा आज न चुकाने पर तुम इसी असत्याचरण के अपराधी बनोगे। ऋषि के इन वचनों को सुनकर सत्यवादी नरपति ने कहा— भगवन्! एक माह आज ही पूर्ण होने वाला है और मैं सूर्यास्त से पूर्व आपकी दक्षिणा दे दूंगा। विश्वामित्र यह आश्वासन पाकर पुनः सायंकाल आने की धमकी देकर वहां से चले गये। राजा पुनः चिन्तासागर में डूबने लगे। उन्हें यह अनुभव हो रहा था कि सहृदय तथा धनाधीश सम्बन्धियों के होते हुए भी मैं आज अनाथ एवं असहाय हूं। उन्हें इस प्रकार शोक और दुःख से कातर देखकर रानी शैव्या ने उन्हें धीरज बंधाते हुए कहा--प्राणेश्वर! आप व्यर्थ ही चिन्ताकुल हो रहे हैं। आपके सुख के साथी होने के साथ हम आपके दुःख के भी साथी हैं। आर्यपुत्र! पत्नी का सच्चा धर्म यही है कि वह अपने स्वामी को दुःख, शोक, चिन्ता आदि से मुक्ति दिलाये, अतः मेरा आपसे नम्र निवेदन है कि आप मुझे बेचकर अपनी दक्षिणा चुका दें। हमें पुत्ररत्न की प्राप्ति हो चुकी है, अतः मेरे लिए आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। यह कहते-कहते रानी का कण्ठ अवरुद्ध हो गया और उसकी आंखों से अश्रु बरसने लगे। यह देखकर राजा भी विह्वल हो गये और करुण स्वर में बोले—देवि! तुम जो कहना चाहती हो, निःसंकोच भाव से कहो। मैं उस पर विचार करने की चेष्टा करूंगा। रानी ने पुनः आर्त्तवाणी में कहा —देव! पुत्रप्राप्ति के लिए पत्नी का साथ आवश्यक होता है। आर्यपुत्र! उसके पश्चात वह साथ भी न रहे तो अधर्म नहीं होता, अतः आप अपनी इस चरणदासी का विक्रय करके दक्षिणा-ऋण से मुक्ति प्राप्त कीजिए। शैव्या के इन वचनों से राजा को इतना अधिक दुःख हुआ कि वे मूच्छित होकर भूमि पर गिर पड़े। पति को इस अवस्था में देखकर रानी भी अधीरतावश अचेत हो गई। पुत्र रोहिताश्व माता-पिता की यह दशा देखकर कुछ भी समझ न पाया और क्षुधा से व्याकुल होकर भोजन के लिए चिल्लाने लगा। कुछ समय उपरान्त दोनों सचेत हुए। राजा ने स्थिति की विषमता से तथा व ऋषि के शापभय से व्याकुल होकर शैव्या को एक वृद्ध के हाथों बेच दिया। मां के अभाव में पुत्र की करुण स्थिति का अनुमान करते हुए राजा ने पुत्र को भी उसी

वृद्ध के हाथों सौंप दिया। इस प्रकार जो धनराशि प्राप्त हुई वह राजा ने विश्वामित्र जी को सौंप दी, किन्तु उस अल्प राशि को देखकर मुनि ने पुनः राजा को शाप देने की धमकी दी और कहा कि यदि सूर्यास्त तक तुम शेष दक्षिणा न दे सके तो निश्चय ही मेरे शाप के पात्र बनोगे। राजा ने मुनि के जाने के बाद सोचा कि मुझे स्वयं को बेचकर दक्षिणा चुका देनी चाहिए। इस निश्चय के अनुसार जब हरिश्चन्द्र ने अपने को बेचने के लिए पुकार मचाई तो चाण्डाल का अति विकृत रूप धारण करके धर्मराज उन्हें क्रय करने आ पहुंचा। नरमुण्डों की माला पहले, मानव के रक्त-मज्जादि से सनित देह वाले, अस्त-व्यस्त केशराशि वाले, दुर्गन्धयुक्त शरीर तथा बड़े-बड़े दांतों वाले, हाथ में दण्ड लिए और विकराल श्वानों से घिरे उस चाण्डाल को देखते ही राजा को उबकाई-सी आने लगी। उन्होंने सोचा इसका दास बनने से तो घोर नरक में वास करना ही अधिक श्रेयस्कर है। मुनि के शाप का दण्ड भी इसकी चाकरी से अधिक दारुण न होगा। अतः मैं इसके हाथों स्वयं को नहीं बेचूंगा। जिस समय राजा इस प्रकार संशय में पड़े थे तभी विश्वामित्र वहां पुनः आ पहुंचे और बोले—राजन्! लाओ, मेरी दक्षिणा। हरिश्चन्द्र ने प्रत्युत्तर में कहा—भगवन्! आप अपनी दक्षिणा के रूप में मुझे अपना दास बना लीजिए। मुझे इस चाण्डाल की चाकरी से बचाइए। राजा की अनुनय को सुनकर ऋषि ने कहा—ठीक है, हम तुम्हें अपना सेवक स्वीकार करते हैं और सेवकधर्म का पालन करने के लिए तुम्हें आज्ञा देते हैं कि एक अर्बुद मूल्य में तुम इस चाण्डाल के हाथों स्वयं को बेच दो और इसके साथ चले जाओ। राजा ने विश्वामित्र की आज्ञा का सहर्ष पालन किया। चाण्डाल के घर में रहकर राजा ने अपने को उसका क्रीत-दास मान कर तन-मन से उसकी सेवा करना प्रारम्भ कर दिया। कुछ काल उपरान्त उनके स्वामी ने उनसे कहा—अब तुम दक्षिण दिशा में स्थित श्मशान में जाकर वहां की चौकीदारी करो। वहां आने वाले प्रत्येक शव पर कर वसूल करो। कर लिए बिना किसी को भी क्रियाकर्म मत करने दो। कर का षष्ठांश (छठा भाग) राजा का, शेष में से तीन भाग मेरा और दो भाग तुम्हारे हुआ करेंगे। अपने स्वामी की आज्ञा का पालन करते हुए हरिश्चन्द्र श्मशान में कार्य करने लगे और शृगालों, उल्लूकों, चीलों, भूतों, प्रेतों, पिशाचों से पूर्ण, डाकनियों-शाकनियों के नृत्य से युक्त, जलती चिताओं तथा सड़ते मांस-मज्जा, रक्त, केश आदि की सड़ांध से भरा, मृतकों के सम्बन्धियों, मित्रों, पुत्रों, कलत्र, बन्धु-बान्धवादि के आर्त्त-

नादों से प्रतिध्वनित, पीपल वृक्षों, टूटे कलशों, अधजले धड़ों, केशों तथा कफन खण्डों से भरा वह श्मशान-घाट सजीव नरक-सा लगता था। उस नरक भूमि में कार्य करते हुए हरिश्चन्द्र की वेशभूषा भी चाण्डालों की-सी हो गई। वे इस स्थिति में भी अविराम अपने कर्त्तव्य कर्म का निर्वाह करते रहे।

एक दिन श्रान्त-क्लान्त हरिश्चन्द्र तनिक विश्राम करने लगे तो उन्हें नींद ने आ घेरा। नींद में उन्होंने एक विचित्र स्वप्न देखा। उन्होंने देखा कि अन्य शरीर धारण करने के बारह वर्ष उपरान्त वे गुरुदक्षिणा से मुक्त हो गए हैं। पुनः उनका जन्म एक पुक्कसी (डोमनी) के गर्भ से हुआ है तथा अल्पायु में ही वे श्मशान का रखवाला बन गए हैं। इस मध्य एक दीन-हीन ब्राह्मण को कर चुकाये बिना शव का दाह-संस्कार न करने देने के कारण उन्हें शापग्रस्त हो घोर नरक की यातना भोगनी पड़ी है। पुनः विभिन्न योनियों में विचरण करते हुए अन्त में वे पुनः अपने कुल में जन्मे हैं और राजा बने हैं। एक बार द्यूत क्रीड़ा में सबकुछ हारकर बन में भटकते हुए सिंह का भोजन बने हैं। स्वप्न में उन्होंने आगे देखा कि उनकी पत्नी शैव्या आर्त्तनाद कर रही है और जब वे उसे बचाने जाते हैं तो वहां कुछ भी नहीं होता। वे यमदूतों की बाधा से शैव्या को रोते-कलपते सुनते हैं।

इसी मध्य उनकी नींद टूट जाती है और उनके कानों में प्रत्यक्ष विलाप का स्वर गूंजने लगता है। एक नारी अपने मृत पुत्र के लिए विलाप कर रही होती है। वे उसके निकट जाते हैं। नारी का आर्त्तनाद उनका हृदय विदीर्ण कर देता है। वे उसके पुत्र के शव को देखते हैं और चक्रवर्ती सम्राटों के-से चिन्ह देखकर उन्हें विस्मय होता है। उस नारी के विलाप को सुनकर अन्ततः वे जान जाते हैं कि वह उनकी ही पत्नी शैव्या है तथा मृतक बालक उनका पुत्र रोहिताश्व है। समय के अन्तराल और कष्टों की बहुलता के कारण वे एक-दूसरे को पहचानने में असमर्थ रहे थे। अपने पुत्र-कलत्र की यह दशा देखकर हरिश्चन्द्र निश्चेष्ट होकर भूमि पर गिर पड़े। कुछ समय के अनन्तर जब उन्हें चेत हुआ तो वे विचारने लगे, इस दारुण दृश्य को वहन करने से तो यही अच्छा है कि मैं आत्महत्या कर लूं, किन्तु तत्काल उन्हें यह बोध हुआ कि दास होते हुए आत्महत्या करना घोर पाप है, क्योंकि उनका जीवन भी तो अपना नहीं है। आत्महत्या के पाप के परिणामस्वरूप उन्हें विभिन्न नरकों की भयानक यातनायें सहन करनी पड़ेंगी। फिर उन्होंने सोचा कि वे यातनाएं इससे दारुण तो न होंगी,

अतः मेरे लिए अपने पुत्र के साथ ही चिता में भस्म हो जाना श्रेयस्कर है। उनका यह विचार जान शैव्या ने भी अपना दाह करने का निश्चय कर लिया। अब चिता चुनी जाने लगी। इस प्रकार जब आत्मदाह की घड़ी निकट आ पहुंची तो उस समय इन्द्रादि देवतागण तथा विश्वामित्र सहित स्वयं धर्म वहां प्रकट हुए और उन्होंने राजा हरिशचन्द्र की अति प्रशंसा करते हुए उनके धर्मपालन तथा कष्टसहन के लिए उनके प्रति आशीर्वचनों की झड़ी लगा दी। देवराज इन्द्र ने कहा—राजन्! दूसरों के लिए अलभ्य स्वर्ग सुख को आप अपनी भार्या तथा पुत्र के साथ भोगो। हे राजन्! मैं आपको यही उपहार देता हूं। इन्द्र के ये वचन सुनकर राजा ने कहा—सुरराज! यह आपका अनुग्रह है, किन्तु मेरे सब पुण्यादि कार्यों में मेरी प्रजा का भी समान रूप से योग रहा है, अतः उसके बिना मुझे स्वर्ग में जाना मान्य नहीं। इस पर इन्द्र बोले—प्रजाजन अपने-अपने कर्मों का फल प्राप्त करेंगे, वे आपके साथ स्वर्ग के अधिकारी नहीं बन सकते हैं। नरपति ने इन्द्र की बात सुनकर स्वर्ग जाना अस्वीकार कर दिया। तब विवश होकर देवराज ने सभी कौशलवासियों के लिए स्वर्गारोहण सुलभ कर दिया। तदन्तर अपने स्वामी चाण्डाल के दासत्व से मुक्त होकर राजा अपनी पत्नी, पुत्र तथा प्रजा सहित स्वर्ग-सुख भोगने चल पड़े। उस समय उनके उस आनन्द को लक्ष्य करके असुर गुरु शुक्राचार्य ने भी उद्घोष किया—जगत् में हरिश्चन्द्र के समान राजा न हुआ है और न होगा। वे अपनी तितिक्षा (सहनशीलता) और दानशीलता के फलस्वरूप प्रजा समेत स्वर्ग भोगने में समर्थ हुए हैं। पक्षी बोले—महर्षे! जो उनकी इस कथा का श्रवण करेगा, वह सम्पूर्ण वेदों और उपनिषदों आदि मन्त्रों के पाठ का फल प्राप्त करेगा। पुष्कर, प्रयाग, गंगासागर, देवालय, काशी तथा कुरुक्षेत्र में इसका पाठन व श्रवण करने वाला विशेष फल का भागी होगा। जितेन्द्रिय होकर इस कथा का वाचन करने का विषुवती व ग्रहण के अवसर पर किए जाने वाले जाप फल से दुगुना फल प्राप्त होता है। इस कथा को सुनकर और पुराणज्ञ ब्राह्मण को समुचित दान-दक्षिणा देने से जो पुण्य फल प्राप्त होता है वह वर्णनातीत है। पक्षी बोले—हे ऋषि-प्रवर जैमिनी जी! इस कथा के श्रवणादि से सब प्रकार की मनोकामनाएं पूर्ण होती हैं, अतः हमने यह सब वृत्तान्त कह सुनाया है। अब हम पृथ्वी-क्षय, राजसूय यज्ञ-विपाक व आडिबक युद्ध आदि की कथा कहते हैं, आप ध्यान से सुनें।

राजा हरिश्चन्द्र के स्वर्गारोहण के बारह वर्ष उपरान्त उनके कुलगुरु

वसिष्ठ जी जल से बाहर आये तो उन्हें विश्वामित्र के कुकृत्य का तथा धर्मात्मा राजा की कष्ट कथा का ज्ञान हुआ। इस पर उन्होंने कहा कि इस वृत्तान्त को सुनकर मुझे जितनी वेदना हुई है उतनी उस समय भी नहीं हुई थी जब इस दुष्टात्मा ने मेरे सौ पुत्रों की हत्या कर दी थी। शत्रुओं के प्रति भी अमर्ष (क्रोध) भाव न रखने वाले उस राजा को इतना कष्ट देने वाले विश्वामित्र को पापात्मा, नीच और तपोभ्रष्ट मानते हुए उन्होंने शाप दिया—हे विश्वामित्र ! जा, तू बक योनि में जन्म धारण कर। उधर विश्वामित्र को जब इस शाप का समाचार मिला तो उन्होंने भी वसिष्ठ जी को शाप दिया कि तुम आडि (चील) रूप में जन्म धारण करो। दोनों ही के शाप शीघ्र फलित हुए और वह दोनों बक (बगुले) व आडि (चील) के रूप में जन्म ग्रहण किए। तब अपने पूर्व बैर के कारण दोनों आकाश में सैकड़ों योजन ऊपर उड़ते हुए युद्ध करने लगे। उन दैत्याकार पक्षियों का युद्ध बड़ा ही विनाशकारी तथा भयानक था। उनके पक्ष-संचालन व प्रहारोंसे भूमण्डल कम्पित हो गया। पर्वतों के शिखर टूट कर भूमिगत होने लगे। सागर में प्रलयंकर उत्ताल तरंगें उठने लगीं। प्राणियों में हाहाकार मच गया। भू-स्खलन, पर्वत खण्डों के निपात तथा जलाघात से अनगिनत जीव-जन्तु मृत्यु को प्राप्त हो गये। पृथ्वी एक ओर को झुक गई तथा ऐसा लगने लगा कि वह पाताल को चली जाएगी। इस प्रकार सम्पूर्ण प्राणियों सहित धरती के नष्ट हो जाने का भय होने लगा। सभी असहाय से परमपिता परमात्मा से विनय करने लगे कि वे उनकी रक्षा करें, किन्तु दोनों पक्षियों का क्रोध निरन्तर आहुति पड़ने से अग्नि से निकलती ज्वालाओं के समान वृद्धि पा रहा था। वे एक-दूसरे के प्राणों के भूखे हो रहे थे। जब यह सर्व-विनाशकारी युद्ध किसी भी प्रकार रुकने में न आया तो अन्य देवगणों समेत स्वयं पितामह ब्रह्मा जी युद्धक्षेत्र में पहुंचे और उन्होंने उन दोनों पक्षियों से युद्ध रोक देने को कहा, किन्तु दोनों पक्षी घोर अमर्ष के वशीभूत थे, अतः उन्होंने ब्रह्मा जी के वचनों पर भी ध्यान नहीं दिया और वे निरन्तर द्वन्द्व युद्ध करते रहे। फलतः पितामह ने सृष्टि को विनाश से बचाने के निमित्त उन दोनों का पक्षीत्व अपहृत कर लिया जिससे वे दोनों अपने पूर्वरूप को प्राप्त हो गये और उनके अमर्षादि का लोप हो गया। तब ब्रह्मा जी ने वसिष्ठ जी से कहा—हे मुनि-सत्तम ! विश्वामित्र द्वारा हरिश्चन्द्र का अहित नहीं हुआ। उनके राजसूय यज्ञ के विपाक (फल) के रूप में उन्हें दारुण कष्टों से ही केवल मुक्ति नहीं मिली अपितु पुरजनों समेत उन्हें सदेह स्वर्गलाभ भी हुआ है। यह तो

विश्वामित्र का उनके प्रति उपकार है। ब्रह्मा जी के वचन सुनकर दोनों ने एक-दूसरे से क्षमा याचना की और दोनों निज-निज स्थान को चले गये।

पक्षियों से इस ज्ञानपूर्ण वृत्तान्त को सुनकर प्रभावित जैमिनी ऋषि ने उनसे पुनः कहा—पक्षीश्रेष्ठ ! आपने जो कुछ ज्ञानोपदेश किया है उसी से मुझे यह जानने की प्रबल इच्छा हुई है कि जीव का जन्म तथा पुनर्जन्म क्यों, कैसे होता है और मातृगर्भ में उसकी क्या स्थिति होती है आदि ? इस गूढ़ विषय पर आप कृपापूर्वक उपदेश कीजिए, जिससे मेरे ज्ञानचक्षु और उजागर हो सकें। इन प्रश्नों को सुनकर पक्षियों को परम आनन्द मिला और उन्होंने उत्तर में कहा—महाभाग, ऋषिश्रेष्ठ ! जीवन, मृत्यु, मरणोत्तर जीवन, आवागमन तथा जननी-जठर में जीव के जीर्ण न पड़ने आदि से सम्बन्धित प्रश्न अति गूढ़ हैं। इन पर ज्ञानोपदेश करना हमारी तुच्छ बुद्धि से बाहर है, पुनरपि हम पुराकाल में सुमति नामक ऋषि-पुत्र द्वारा इस सम्बन्ध में अपने पिता के प्रति कथित वृत्तान्त आपको सुनाकर आपकी जिज्ञासा शान्त करने का प्रयास करते हैं।

प्राचीन काल में महामति नामक एक भृगुवंशी ब्राह्मणपुत्र का नाम सुमति था। उसका यज्ञोपवीत संस्कार तो हो चुका था, किन्तु प्रकट रूप में वह अब भी जड़ तथा नितान्त अज्ञानी लगता था। पितृस्नेह से विह्वल होकर उसका पिता बारम्बार उसे ज्ञानार्जन करने का उपदेश करता रहता था, ताकि उसका यह लोक और परलोक संवर सके, किन्तु पुत्र पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता था। अन्ततः जब एक बार पिता ने उसे सब आश्रमों का क्रमानुसार पालन करने और ब्रह्मचर्य-आश्रम में ब्रह्म-ज्ञान प्राप्त करने का उपदेश दिया तो वह किंचित हंसकर बोला – तात ! यह सब मिथ्या है, मैं यह सब ज्ञान पहले ही प्राप्त कर चुका हूं। मुझे दस सहस्र वर्षों से कुछ अधिक कालावधि की अभी भी स्मृति है। इस मध्य मैंने अनेक जन्म ग्रहण किए और अनेक बार मृत्यु का आलिंगन किया है। पुत्र-कलत्र, माता-पिता तथा अन्यान्य विभिन्न सम्बन्धियों से मेरा संयोग-वियोग भी हुआ है। मैंने अनेक योनियों—पशु-पक्षी, सरी-सृप वर्गादि—में जन्म ग्रहण किया और जननी-जठर की दारुण यातना को भोगा है। अनेक बार मानव रूप में जन्म प्राप्त कर मैंने सेवक-स्वामी, धनी-निर्धन तथा मूर्ख-विद्वान् आदि के रूप में जीवन यापन किया है। इन जन्म-जन्मा-तरों में मैंने अनेक बार दान दिया है और दान लिया भी है। मुझे लोगों ने मारा और मैंने भी लोगों को मारा। मैंने अनेक बार सम्पन्नता और सुखादि का तथा अनेक बार विपन्नता और दुःखों एवं वेदना आदि का भी भोग

किया है । इस प्रकार विभिन्न जन्मों में मैंने ऋग-यजु-साम आदि वेदों का अध्ययन भी किया। उन सबका ज्ञान मुझे हो चुका है, अतः हे पितृचरण! अब मुझे किसी भी ज्ञान की न तो इच्छा है और न ही आवश्यकता है। मैं गुरु की कृपा से ज्ञान-विज्ञान में तृप्त होकर चेष्टारहित व सदात्मा बन चुका हूं। मुझे यह सम्पूर्ण माया-मोह आदि सैकड़ों बन्धनों के समान लगता है, अतः मैं इन सबको काटकर रज-गंध-गुणहीन ब्रह्मपद को प्राप्त करने का इच्छुक हूं। यही कारण है कि मुझे त्रयी विद्या का धर्म अधर्म के समान लगता है।

पुत्र के इन परम ज्ञानपूर्ण वचनों को सुनकर पिता का हृदय हर्ष से उत्फुल्ल हो गया और विस्मय से युक्त हो उसने गद्‌गद् वाणी में कहा— हे पुत्र! तुम तो जड़ और मूर्ख थे। तुम में अपूर्व एवं विलक्षण ज्ञान का यह स्रोत कहां से फूट पड़ा है? क्या तुम किसी शाप के वशीभूत रहे हो? मैं यह सब वृत्तान्त जानने को अति व्यग्र तथा आकुल हूं। शीघ्र ही मुझे यथास्थिति से अवगत कराओ। यह सुनकर पुत्र बोला— पिताजी! मैंने आपसे जो कुछ कहा है तथा जो कुछ अब मैं कहने जा रहा हूं, वह सब मेरे पूर्वजन्मों से सम्बद्ध है। मैं आपको जो कुछ बतला रहा हूं, वह सब आप ध्यानपूर्वक सुनने की कृपा करें।

मैं पूर्वजन्म में सद्‌वृत्तियों से युक्त एक ब्राह्मण था। मैं परमात्मा के चिन्तन तथा ध्यान में ही अपना समय व्यतीत किया करता था। मेरे जीवन के सत्संग, योगाभ्यास, वेदाध्ययन तथा परमात्मा के स्मरण आदि में निरत रहने से मैं अपने जीवन से सन्तुष्ट था। मैं आचार्य पद प्राप्त कर अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेश करके उनकी शंकाओं का समाधान करता रहता था। कालान्तर में मैं ऐकान्तिक हो गया, किन्तु इस मध्य मुझे प्रमाद ने ग्रस लिया, जिससे मैं अपने पथ से विचलित हुए बिना न रह सका। इतना होने पर भी मृत्युपर्यन्त मेरा ज्ञान भ्रष्ट नहीं हुआ तथा पूर्वजन्मों के सत्कर्मों के परिणामस्वरूप मेरा ज्ञान मृत्यु के उपरान्त इस जन्म में भी बना हुआ है। जिन पूर्वकर्मों के कारण मैं जातिस्मर (जन्म-जन्मांतर की स्मृति वाला) बना हुआ हूं, वैसे ही आचरण (शुभ कर्म) मैं अब भी करूंगा, परन्तु इससे पूर्व पितृ-ऋण से उऋण होने के लिए मैं आपकी शंका का निवारण करना चाहता हूं। आप अपनी शंका प्रकट करें।

पक्षियों ने कहा—महर्षे! पिता ने यह सुनकर पुत्र से जन्म-मृत्यु के जटिल प्रश्न पर प्रकाश डालने का आग्रह किया, जिसके उत्तर में पुत्र बोला—हे तात! जन्म-जन्मान्तरों में मैंने जो कुछ भी अनुभव किया है मैं

वही आपके प्रति कहता हूं। जिस सृष्टिचक्र को, जिस जगत को आप देख रहे हैं, उसकी वास्तव में कहीं कोई स्थिति नहीं है, अतः मृत्यु अथवा काल तथा उससे सम्बद्ध वृत्तान्त को भी कहा नहीं जा सकता, पुनरपि मैं आप-की आज्ञा से उसका यत्किञ्चित् वर्णन करता हूं, आप उसे ध्यानपूर्वक सुनें।

शरीरस्थ पित्त के कुपित होने से तथा उदान नामक वायु के उस पर आसीन हो जाने से जीव द्वारा खादित पदार्थों की अधोगति रुद्ध हो जाती है। इसी का नाम अजीर्णता है। तब जीव शरीर छोड़ने को व्याकुल हो जाता है। जीव के इस प्रकार शरीर से निकलने को ही मृत्यु कहा जाता है। इस समय जीव के पूर्णादि कर्म ही उसके सहायक होते हैं। उसके द्वारा दिया गया अन्नादि का दान ही उसका भोज्य (भोजन) और पाथेय (मार्ग की सामग्री) बनता है। जो व्यक्ति पाप कर्म में लगा रहता है उसे इस बेला में अति कष्ट होता है तथा उसके प्राण बड़ी कठिनाई से शरीर का त्याग करते हैं। इसके विपरीत शुद्ध चित्त, सात्विक, राग-द्वेष-रहित, ब्राह्मण, धर्म-सेवी व्यक्ति के प्राण बिना कष्ट के निकल जाते हैं। अधम, पापी तथा भोगी-विलासी जन बड़ी यातना के पश्चात् जब प्राण त्याग करते हैं तब उन्हें अन्य देह प्राप्ति पर माता-पिता के सुख से वंचित होना पड़ता है और वे नरक की दारुण यंत्रणा सहन करने को विवश होते हैं। वे यमदूतों द्वारा प्रताड़ित व दण्डों से प्रहारित होकर दक्षिण दिशा की ओर घसीटे जाते हैं। शूल, कुश, कील तथा पाषाण खण्ड आदि से भरे अति कष्टसाध्य मार्ग से उन्हें नरक की ओर ले जाया जाता है। असंख्य गीदड़ नोचते-खसोटते तथा यमदूत उन्हें नृशंसतापूर्वक पीटते रहते हैं। इस प्रकार उन्हें अति विकराल यमराज के निकट ले जाया जाता है और यम-राज द्वारा न्याय किए जाने पर उन पापियों को विभिन्न नरकों की यातना भोगनी पड़ती है। मिथ्यावादी, मिथ्यासाक्षी, ब्रह्म-हत्यारे, गौ-हत्यारे, पर स्त्रीगामी, वंचक व दूसरों की धरोहर को हड़प जाने वाले नीच रौरव नरक में पड़ते हैं। यह नरक दो हजार योजन लम्बा और दो हजार योजन चौड़ा है उसमें जांघ तक की गहराई के अनेकों गर्त हैं, जिनमें कभी न बुझने वाले अंगारे धधकते रहते हैं तथा ऐसे पापी उसमें सदा जलते-तड़पते रहते हैं। यमदूत उन्हें उठा-उठाकर इन गर्तों में डालते रहते हैं, उनके पैर फट जाते हैं तथा रात-दिन में वे केवल एक बार ही अपना चरण उठा पाते हैं। इस प्रकार उन्हें रौरव नरक को जाना होता है। उसके पश्चात उन्हें दूसरे नरक में जाना होता है और वहां के अनेक कष्टों को भुगतने के उपरान्त

कर्मभोग चुक जाने पर वे उन्हें विभिन्न योनियों—कृमि, कीट, पतंग, मच्छर, स्वापद, अश्व आदि-में उत्पन्न होकर विचरण करना पड़ता है। पश्चात् सत्कर्मों के पुण्य के फलस्वरूप उन्हें आरोहिणी गति से मानव जीवन में क्रमशः शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय तथा ब्राह्मण के रूप में जन्म प्राप्त होता है। मनुष्य योनि में शुभ कर्मों के अनुष्ठान से जीव देवेन्द्र तक बन सकता है और यदि इस कर्म में वह पुनः पापरत होता है तो अवरोहणी गतिसे क्रमशः सभी नरकों की यातनाएं उसे फिर भोगनी पड़ती हैं। इसके विपरीत पुण्यात्माओं को यमराज सु-फल देते हैं। उनके मार्ग में देव-गंधर्व आदि उनका स्वागत करते हैं तथा शीतल मन्द सुगन्ध वायु वहां बहती रहती है। उन्हें वहां सब प्रकार का सुखभोग प्राप्त होता है और पुण्यों के शेष हो जाने पर वे पुनः किसी महात्मा अथवा राजवंशी के रूप में जन्म पाते हैं, तदुपरान्त वे अपने क्रमानुसार आरोही अथवा अवरोही गति को प्राप्त होते रहते हैं।

पुत्र ने पुनः कहा—हे पिताजी ! अब मैं आपके सम्मुख गर्भधारण तथा जीवोत्पत्ति का वर्णन करता हूं। आप ध्यानपूर्वक इसे कर्णगत करने की कृपा करें।

सम्भोग काल में नारी के रज में पुरुष के वीर्य का मिलन होने पर पर-लोक (स्वर्ग या नरक) से छूटा हुआ जीव उसमें स्थित हो जाता है। तदु-परान्त कुछ बुलबुले अण्डाकार हो जाते हैं, जिनमें विद्यमान सूक्ष्म बीज अंकुर कहलाता है। इसी से सभी अंग और समस्त उपांग निर्मित होते हैं। उपांगों के विकसित होने के पश्चात नख, केश, रोमावली, त्वचा आदि बनते हैं। यह वृद्धि नारियल के समान होती है अर्थात जिस प्रकार नारि-यल कोष सहित विकसित होता है, वैसे ही गर्भस्थ जीव भी गर्भकोष सहित अधःशीश स्थिति में बढ़ता रहता है। विकास की इस स्थिति में वह क्रमशः रूप-आकार धारण करता तथा आप्यायनी नाड़ी से भोजन ग्रहण करता रहता है। इस स्थिति में भी उसके पाप-पुण्यादि उसके सहगामी रहते हैं तथा उसे अपने पूर्वजन्मों की अनेक बातें स्मरण रहती हैं। गर्भ की भया-नक यंत्रणा और कष्ट से व्याकुल होकर वह प्रतिक्षण यही निश्चय करता रहता है कि यदि मुझे इससे मुक्ति मिल जाए तो मैं केवल ईश्वर से ही लौ लगाये रहूंगा। मायामोहादि से स्वयं को सर्वथा अलग रक्खूंगा ताकि पुनः मुझे यह यातना न भोगनी पड़े। इस प्रकार वह क्रम से नवम् या दशम् मास तक जननी के गर्भ में विकसित होता हुआ अन्त में जन्म ग्रहण करता है। जन्म काल में वह प्रजापति वायु से अति पीड़ित होता है; अतः

भूमि में आते ही वह मूर्छित हो जाता है तथा पुनः वायु के स्पर्श से ही वह चेतनालाभ करता है। इस चेतनालाभ के साथ ही परम मोहिनी वैष्णवी माया उसे घेर लेती है और वह मृत्युपर्यन्त उसमें पड़ा भ्रम व अज्ञान में भटकता रहता है। फलतः वह बारम्बार जन्म तथा मृत्यु को प्राप्त होता रहता है। जन्म लेने की पीड़ा के साथ योनिछिद्र से बाहर आने का कष्ट महा भयानक होता है। इस प्रकार घटिका-चक्रवत जन्म-मृत्यु के चक्कर में पड़ा जीव नाना प्रकार के शुभाशुभ कर्मों को करता तथा परिणामस्वरूप कभी स्वर्ग में तथा कभी नरक में वास पाता रहता है। नरक में तो उसे दुस्सह यन्त्रणा मिलती ही है, किन्तु स्वर्ग में भी वह इससे मुक्त नहीं रह पाता। उसे स्वर्ग में प्रतिक्षण यही चिन्ता सताये रहती है कि पुण्यों का क्षय हो जाने पर उसे पुनर्जन्म की पीड़ा सहन करनी पड़ेगी।

यह सब कहने के उपरान्त अपने पूज्य पिता को सम्बोधित सुमति बोला—तात! स्वर्ग, मृत्यु, यम-बाधा तथा नरक-यन्त्रणा आदि सब कर्म के फल होते हैं, अतः मैं सभी प्रकार के अच्छे-बुरे कर्मों से मुक्ति की कामना करता हूं। मुक्तिकामी जन के लिए त्रयी-धर्म पालन का कोई महत्व नहीं। वह तो अपराविद्या प्राप्त करने में ही लगा रहता है। अतः हे पिताश्री! मैं भी उसे पाना चाहता हूं और यही कारण है कि मुझे आश्रम धर्म में कोई रुचि नहीं।

पुत्र के ऐसे ज्ञानगर्भित शब्दों को सुनकर पिता को अति आनन्द हुआ और वह पुनः बोला— हे ज्ञानी पुत्र! तुमने अपने पूर्वजन्मों के प्रकाशन के माध्यम से मेरे प्रति जिस महाज्ञान का उद्घाटन किया है, उससे मुझे बहुत बोध हुआ है। तुमने जिस प्रकार **रौरव** नरक का विस्तृत वर्णन किया है, उसी प्रकार अब अन्य नरकों के विषय में भी बतलाओ, मेरा तुमसे यह अनुरोध है।

पिता के आदेश को शिरोधार्य करते हुए पुत्र ने कहा—अब मैं आपको **महारौरव** नरक के विषय में सविस्तार बतलाता हूं। इस नरक का मार्ग अगम्य और अति कष्टकारी है। इसका परिमाण चारों ओर बारह हजार योजन है। उसका तल ताम्रवर्णी है। उसके नीचे भयानक अग्नि सुलगती रहती है, जिससे वह दारुण दाह को तथा बिजली की-सी प्रभा को उत्पन्न करता रहता है। यही कारण है कि उसे देखना या उसका स्पर्श करना अति घातक है। अभक्ष्य भक्षण करने वाले, विश्वासघाती, परस्त्रीगामी, मित्रद्रोही, उपवन, तड़ाग और वटवृक्ष आदि को हानि पहुंचाने वाले इस नरक में पड़ते हैं। यमदूत बड़ी ही नशंसता के साथ उन्हें इस

नरक में डाल देते हैं, जहां वे असीम कष्ट पाते व लोटते रहते हैं। शृगाल काक, गिद्ध, सर्प, बिच्छू आदि उन्हें नोचते-खसोटते हैं, किन्तु वे असहाय-से कुछ भी कर पाने में असमर्थ रहते हैं। दारुण-दुस्सह ताप-कष्टवश वे आर्त्त-नाद करते हुए, 'हा पिता', 'हाय माता', 'हाय भैया', कहते हुए तड़पते रहते हैं, किन्तु उन्हें किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिल पाती। जो घोर पातकी जन इस नरक में पड़ते हैं, वे सहस्त्रों वर्षों के पश्चात् इससे मुक्ति पाने में समर्थ होते हैं।

महारौरव नरक के पीछे **तम** नामक नरक है। वह भी क्षेत्र-विस्तार की दृष्टि से महारौरव नरक के तुल्य है, किन्तु प्रकृति से वह उससे भिन्न अति शीतयुक्त है। गो-वध, शिशु-हत्या तथा भ्रातृघात करने वाले इस नरक में डाले जाते हैं। शीत की असह्यता से इस नरक में पड़ने वाले एक-दूसरे से लिपटकर अपने कष्ट को कुछ कम करना चाहते हैं किन्तु फिर भी उन्हें इससे कोई लाभ नहीं होता। ठण्ड की अतिशयतावश उनके दांत आपस में टकरा-टकरा कर टूट जाते हैं। हिम-शीतल वायु के थपेड़ों से उनकी हड्डियां चटखने लगती हैं तथा रक्त, मांस मज्जादि जम जाते हैं। क्षुधार्त्त वे जीव एक दूसरे के शरीर को चाट-चाट कर अपनी क्षुधा शान्त करना चाहते हैं। इस प्रकार की घोर यन्त्रणाओं से वे अति कातर हो जाते हैं किन्तु उससे उन्हें छुटकारा नहीं मिलता। पापकृत पापों के प्रभाव के क्षय होने तक वे वहीं पड़े रहते हैं।

तम नामक नरक के बाद **निकृन्तन** नामक नरक है। यह निरन्तर कुम्हार के चाक के समान घूमता रहता है। असत्यवादी, गुरुद्रोही, दुराचारी तथा मिथ्या गवाही देने वाले पापियों को इस चक्र में डालकर काटा जाता है किन्तु फिर भी उनका नाश नहीं होता। दुर्भाग्यवश कटने के पश्चात् वे पुनः पूर्ण हो जाते और पुनः चक्र में काटे जाते हैं। यह प्रक्रिया सहस्त्रों वर्षों तक निरन्तर चलती रहती है। पापों का क्षय हो जाने पर ही उन्हें इस नरक की यातना से छुटकारा मिलता है।

निकृन्तन नरक के बाद **अप्रतिष्ठ** नामक नरक आता है। ब्राह्मणों के यज्ञ-यजनादि में विघ्न डालने वाले अथवा उनके धर्म में बाधा पहुंचाने वाले दुष्ट प्राणी इस अतीव कष्टदायी एवं महा भयानक नरक में पड़ते हैं। यहां पर उन्हें चक्र व घटी-यन्त्र में चढ़ाकर दण्डित किया जाता है। चक्र व घटी-यन्त्र में लघु घटवत् बंधकर वे पापात्मा निरन्तर घूमते तथा रक्त वमन करते हैं। उनकी आंतें मुंह से बाहर को निकल आती हैं तथा आंखें फट जाती हैं। सहस्त्रों वर्षोंपर्यन्त उन्हें यह घोर कष्ट भोगना पड़ता है।

अप्रतिष्ठ नरक के बाद **असिपत्र** नामक अति भयानक नरक है। इस में भी भयानक ताप विद्यमान रहता है। यहां एक असिपत्र वन है, जहां अति बृहद आकार के हिंसक कुत्ते रहते हैं। ताप से व्याकुल विलापरत जीव जब इस वन में प्रवेश करता है तो उसकी वेदना और भी अधिक बढ़ जाती है। भयानक प्रभंजन आने से असिपत्र (तलवार के पत्ते) गिरने लगते हैं जिनके आघातों से यहां के प्राणियों के तन क्षत-विक्षत हो जाते हैं। ब्रह्मचारियों की तपस्या में विघ्नकारी इस नरक में पड़कर यातना सहते हैं। पापीजन यहां आते ही घायल होकर गिर पड़ते हैं और उनके गिरते ही भयावह श्वान उन पर झपट पड़ते तथा उनके टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं।

असिपत्र नरक से आगे और उससे भी भयंकर नरक **तप्त कुम्भ** नाम से जाना जाता है। इसके चारों ओर अग्नि शिखाएं धधकती हैं तथा इसमें खौलते तेल से भरे लौहचूर्णयुक्त तप्त कुम्भ रक्खे रहते हैं। यमदूत पापियों को नीचे की ओर सिर कर इन घड़ों में डालते हैं। धर्म-शास्त्र व तीर्थों को दूषित करने वाले, शुभ-स्त्री से असामयिक भोग करने वाले इस नरक में पड़ते हैं। वे कुम्भ में डाले जाते हैं और उनका शरीर फट जाता है, मज्जादि सूख जाती है तथा भयानक गिद्ध उन्हें उठा-उठा कर पुनः-पुनः कुम्भ में डाल देते हैं। वे खौलते तेल में पड़कर भुनते-से रहते हैं। यमदूत उन्हें दर्वी से कूट-कूटकर महातैल के गर्त में डाल देते हैं और फिर उन्हें मथ कर और भी अधिक दारुण यातना पहुंचाते हैं।

प्रमुख नरकों का संक्षिप्त वर्णन करने के पश्चात् ब्राह्मणपुत्र ने कहा — द्विजश्रेष्ठ! अब मैं आपको अपने द्वारा भोगी गयी नरक यातना के विषय में बताता हूं। इस जन्म से सात जन्म पूर्व मैं वैश्य कुल में जन्मा था। एक बार प्रमादवश मैंने गौ के पानी पीने में बाधा डाली थी। परिणामतः मुझे घोर नरक की यातना भोगनी पड़ी थी। वह बड़ा ही भयानक नरक था, जहां का भयानक ताप जीवों को प्रतिक्षण दग्ध करता रहता था, लोहे की चौंच वाले भयानक पक्षी जीवों को नोंच-नोंचकर असह्य यातना पहुंचाते थे। प्यास से कंठ फट जाता था। यमदूत पापियों को इस प्रकार से भयानक दण्ड देते थे कि उनके रक्त, मज्जा, मांस आदि से उस नरक की सारी भूमि सनी रहती थी। तप्त वायु के झोंको से और दुर्गन्ध से इस नरक के वासी अतिशय कष्ट पाते थे। मैं उस नरक में एक सौ वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहा। एक दिन अकस्मात् ही उस नरक में शीतल और सुखद वायु प्रवाहित होने लगी। इससे सभी को अत्यधिक आश्चर्य हुआ

और तभी उन्होंने देखा कि एक दिव्य आत्मा उसी ओर चली आ रही है। यमदूत उसका पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। उसे देखते ही नरकवासियों ने उससे विनय की—हे महात्मन् ! आप कुछ देर हमारे निकट स्थित होईये जिससे कि हमें सुशीतल पवन का लाभ अधिक समय तक हो सके। इससे करुणार्द्र होकर वह पुण्यात्मा हमारे निकट स्थित हो गयी, किन्तु वहां के हृदयविदारक एवं भयानक दृश्य को देखकर वह स्वयं क्षुब्ध हो गयी और उसने यमपुरुषों से कहा—मैंने आजीवन पुण्य कार्य किये हैं, कभी भी किसी जीव को नहीं सताया है और न कभी कोई अनाचार या अत्याचार ही किया है, मैंने अपने पितरों और देवताओं का भी कभी अपमान नहीं किया, क्योंकि मैं जानता हूं कि पितरों का रूठने से सात जन्मों के और देवताओं के रूठने से तीन जन्मों के पुण्य क्षरित हो जाता है। इतना ही नहीं, मैंने अपनी प्रजा के प्रति भी सदा धर्म का पालन किया है। जब मैंने कोई पापकर्म नहीं किया तो फिर मुझे इस नरक में क्यों लाया गया है ? इतना सुनते ही अति कठोर-भाषी यमदूतों ने नम्रतापूर्वक उस दिव्यात्मा से जो कहा, अब मैं उसका वर्णन आपके सामने करता हूं।

यमदूतों ने कहा —श्रीमन् ! आप निश्चय ही एक पुण्यात्मा हैं किन्तु आपने एक अति सामान्य अपकर्म किया था। एक बार आपने अपनी विदर्भदेशीया पत्नी पीवरी के ऋतुमती होने पर उसकी उपेक्षा कर दी थी, क्योंकि उस समय आप कैकयदेशीया पत्नी सुशोभना के प्रति अति मुग्ध एवं आसक्त थे। जिस प्रकार होमकाल में अग्नि को आहुति की आवश्यकता होती है वैसे ही ऋतुकाल में प्रजापति बीजपात की इच्छा रखते हैं। इसके अभाव में पितृऋण बना रहता है और जीव को नरक की यातना भोगनी पड़ती है। आपको भी इसी एक बार के व्यतिक्रम के कारण नरक में आना पड़ा है। अब आप अपने पुण्यों का भोग करने चलिए।

यमदूतों के ये वचन सुनकर उस पुण्यात्मा ने कहा यम-किंकरों, आप लोग मुझे जहां चलने को कहेंगे मैं चलने को तत्पर हूं, किन्तु आप तनिक कृपा कर मुझे यह बतलाने की कृपा करें कि ये जीव किस कारण वश इस नरक में इतनी यातना भोग रहे हैं। इनके नेत्रादि बारम्बार इन पक्षियों द्वारा निकाले जाने पर भी पूर्ववत् उग आ रहे हैं। आप यह भी बताने की कृपा करें कि इन्हें यह यातना कब तक भोगनी होगी ?

इन प्रश्नों का समाधान करते हुए यमदूतों ने उत्तर दिया—हे पुण्यात्मन्! जीव अपने सद्असद् कर्मों का ही भोग करता है। भोग के बिना कर्मफल का क्षय नहीं होता। जैसे उगाया हुआ अन्न भोगने से ही क्षरित

होता है, उसी प्रकार कर्मफल का भी भोगने से ही क्षय होता है। फिर चाहे, वह पुण्य हो अथवा पाप हो। पुण्यात्मा जीवों को उनके पुण्यों के क्रमानुसार स्वर्ग आदि की प्राप्ति होती है और पापात्मा जीव नारकीय यन्त्रणाएं ही भोगते हैं। ये सभी पापीजन अपने-अपने कृत-कर्मों का ही फल भोग रहे हैं तथा तब तक भोगते रहेंगे जब तक इनके पापकर्मों का क्षय नहीं हो जाता है। अब हम आपको यह बतलाते हैं कि किन कर्मों का क्या फल प्राप्त होता है। आप सुनें और इनके पापकर्मों का अनुमान लगा लें।

(१) जो नराधम परनारी को बुरी दृष्टि से देखते हैं अथवा परद्रव्य पर कुदृष्टि रखते हैं, वे इस नरक में पड़ते हैं तथा वज्रतुण्ड पक्षी उनके नेत्रों को निकालते रहते हैं। यह क्रिया उतने ही हजार वर्षों तक चलती है जितने निमिष उन दुष्टों ने ये पापाचरण किये होते हैं।

(२) शत्रु का भी ज्ञानक्षय करने के विचार से जो शास्त्रों का अशुद्ध अर्थ करते अथवा दूसरों को अनुचित सलाह देते हैं, गुरु, देवता अथवा ब्राह्मण के प्रति मिथ्या वचन कहते अथवा उनकी निन्दा करते हैं, वे भी इस नरक में गिरते हैं और उनकी जिह्वा का ये पक्षी बारम्बार विखण्डन करते हैं।

(३) जो नराधम माता-पिता, पिता-गुरु तथा याज्ञिक-उपाध्याय आदि में भेद करते हैं वे भी नरक में पड़कर विकट करपत्र की चोटों से पीड़ित होते हैं।

(४) चन्दन, ताड़पत्र, खस आदि की चोरी करने वाले तथा साधु जनों को कष्ट देने वाले इस 'तप्त बालुका राशि' में निपतित होकर घोर यातना पाते हैं।

(५) किसी एक के श्राद्धादि का निमन्त्रण स्वीकार करके अधिक लाभ के लोभवश किसी अन्य के यहां भोजन ग्रहण करने वालों तथा चुगली करने वालों की जिह्वा इस पैनी छुरी से काट दी जाती है।

(६) माता-पिता, गुरु आदि का अपमान करने वालों को अधोमुख करके विष्ठा, पीव अथवा मूत्रकुण्ड में डाला जाता है। देव, अतिथि, पक्षी आदि को भूखा रखकर स्वयं भोजन करने वाले सूचीमुख नरक में पर्वताकार होकर पीव आदि का पान करते हैं। द्विज तथा अन्य जनों को एक पंक्ति में बिठलाकर उन्हें भोजन कराने में भेदभाव करने वाले विष्ठा का भोजन प्राप्त करते हैं। साथी व्यापारी की निर्धनता का विचार कर उसे खिलाए बिना स्वयं भोजन करने वाले कफ़ का भोजन ग्रहण करते हैं।

(७) उच्छिष्ट स्थिति में ब्राह्मण, गौ, अग्नि आदि का स्पर्श करने वाले पापियों के हाथ को अग्निकुण्ड में डाला जाता है। इस दशा में सूर्य चन्द्र नक्षत्र को देखने वालों के नेत्रों पर अग्नि को रख दिया जाता है। माता-पिता, गुरु-भगिनी आदि का चरण से स्पर्श करने वालों के पैर तप्त बेड़ियों से बांधे जाते हैं।

(८) बिना संस्कार के खीर तथा याग आदि देवान्न का भोजन करने वालों के नेत्र निकाल कर फेंक दिये जाते हैं। गुरु-निन्दा सुनने तथा उसकी पुष्टि करने वालों के कानों में यमदूतों द्वारा अग्निवर्षक लौह सलाखा डाली जाती है।

(९) दूसरों के भवन आदि को विध्वंस करने वालों, पवित्र मार्ग पर मल-मूत्र विसर्जन करने वालों, एक बार दान दी गई कन्या का पुनः दान करने वालों, केवल अपना ही भरण-पोषण करने वालों, परस्त्रीगामियों, गुरु को निम्न स्थान देकर स्वयं उन्नत स्थान पर बैठकर विद्याध्ययन करने वालों आदि को भी यमदूतों द्वारा अति दारुण एवं दुस्सह यन्त्रणा दी जाती है।

यमदूत बोले—हे नरश्रेष्ठ! देखिए, इष्ट-मित्रों से घात करने वालों को तप्त कुम्भ में गिराया जाता है, तदन्तर इन्हें पीसा जायेगा और पुनः असिपत्र नरक खड्ग की मार सहनी पड़ेगी और तब कालसूत्र नरक में डाल दिया जायेगा। ये दुष्ट ब्राह्मण श्राद्ध में कलह करने के दण्ड के रूप में सर्पविष का भोजन कर रहे हैं। यह स्वर्ण-तस्कर है, वह ब्रह्म-हत्यारा है, यह गुरु की स्त्री को चुराने वाला पापी है तथा यह मद्यप है। ये सभी चारों ओर से अग्नि शिखाओं से परिवृत्त हो रहे हैं। इसके उपरान्त इन्हें कुष्ठ या क्षय रोगी के रूप में अधम जन्म की प्राप्ति होगी। वे प्राण त्याग कर पुनः नरकवास पाएंगे। इधर ये गौ-हत्या आदि के पातकी जीव हैं, जिन्हें तीन जन्मपर्यन्त यातना भोगनी पड़ेगी। हे राजन! विभिन्न कर्मों के फलभोग को सुनने के उपरान्त अब आप विभिन्न पापों के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली विभिन्न योनियों के विषय में सुनिये।

(१) यमदूत बोला—राजन्! पतित व्यक्ति से धन ग्रहण करने अथवा उसका यज्ञ कराने वाला ब्राह्मण गर्दभ योनि प्राप्त करता है और मर कर नरक भोगता है। नरक से मुक्ति पाने पर वह कृमि रूप धारण करता है।

(२) माता-पिता को अपमानित करने वाला भी गर्दभ ही बनता है। माता-पिता के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करने वाला मैना बनता है।

(३) भाई की पत्नी का अपमान करने वाला कपोत बनता है और भावज को कष्ट पहुंचाने वाला कच्छप की योनि में पड़ता है।

(४) धरोहर को हड़प लेने वाला कृमि की योनि में जन्म लेता है।

(५) स्वामी का पिण्ड भोजन कर उसकी कल्याण कामना न करने वाला बन्दर बनता है।

(६) विश्वासघाती, मछली, धान्य की चोरी करने वाला नेवला-मूषक बनता है।

(७) परस्त्रीगामी भेड़िया, कुत्ता, गीदड़, गिद्ध, काग, बगुला, सर्प आदि विभिन्न योनियों में भटकता है।

(८) मित्र की पत्नी से या राजपत्नी से रमण करने वाला सूअर बनकर जन्म प्राप्त करता है।

(९) बालक या स्त्री का वध करने वाला कृमि बनता है।

(१०) भोजन चुराने से मक्षिका का जन्म मिलता है।

(११) बड़े भाई का अपमान करने वाला क्रौंच योनि को प्राप्त होता है।

(१२) वर्ण आदि का ध्यान न रख भोगरत रहने वालों को अति अधम योनि में जन्म मिलता है।

(१३) सामान्य अन्न चुराने वाला बिल्ली, तिल मिश्रित अन्न चुराने वाला मूषक, घृत हरणकर्त्ता नेवला, मांस चुराने वाला कौवा या गिद्ध, नमकचोर जलकाक तथा दधि-दुग्ध-तेल-आसव आदि की चोरी करने वाला क्रमशः कृमि, बगुला, तेली, तीतर आदि बनता है।

(१४) वस्त्र चुराने वालों को भालू, चकवा-चकवी, मयूर आदि की योनि प्राप्त होती है।

कहने का भाव यह है कि किसी भी प्रकार का पाप कर्म करने पर आरोही गति से निम्न से निम्नवत् योनि की ही प्राप्ति होती है। हे नृप-श्रेष्ठ! अब आपको यहां से चलकर अपने पुण्यों का भोग करना चाहिए।

यह सुनते ही नरकवासियों ने आर्त्त स्वर में उस पुण्यात्मा से वहां कुछ और समय ठहरने का आग्रह किया। अतः उस पुण्यात्मा ने यमदूत से कहा—मैं इनका दुःख दूर करने के लिए यहीं रहना चाहता हूं। भले ही ये पापात्मा हैं तथापि मुझ से इनका कष्ट देखा नहीं जाता है। मैं इन की यन्त्रणा कम करने के लिए अपने स्वर्गसुख का तृणवत् त्याग करने को प्रस्तुत हूं और इस नरक की यातना सहने को सहर्ष तत्पर हूं। इन दुःखी

जीवों को यदि मेरी उपस्थिति से सुख मिल जाये तो मैं सब कुछ प्राप्त हो गया समझूंगा। यमदूतो ! अब ग्राप यहां से शीघ्र चले जाग्रो ग्रौर मुझे यहीं छोड़ दो।

यमदूत बोला—नहीं, पुरुषश्रेष्ठ ! ऐसा नहीं हो सकता। देखिए ग्रापको लेने के लिए देवराज इन्द्र तथा धर्म ग्रादि उपस्थित हैं। ग्रापको इनके साथ जाना ही होगा। तभी धर्म ग्रौर इन्द्र ने ग्रागे बढ़कर राजा से निवेदन किया कि ग्राप हमारे साथ चलकर सुख भोग करें तथा इन पापियों को भी नरक की यातना भोगने दें। इस पर राजा ने प्रश्न किया—हे धर्म ! हे शचीपते ! कृपा कर मुझे मेरे पुण्यों का परिचय दीजिए। इन्द्र बोले—ग्रापके पुण्य ग्रनगिनित हैं। सागर के जल-बिन्दुग्रों के समान तथा भागीरथी के तल में विद्यमान बालुका राशि के कणों के समान उनकी गणना नहीं की जा सकती। अब इन नारकीय जीवों पर ग्रापकी दया से ग्रापके पुण्यों की मात्रा और भी ग्रधिक हो गई है।

यह सुन उस परम पावन ग्रात्मा ने कहा—यदि मेरे पुण्यों से इन पापियों का निस्तार नहीं हो सकता तो पुण्यों का भला मूल्य ही क्या रह जाता है ? ग्रतः ग्राप मेरे पुण्यों के बल पर इन्हें इस नरक यातना से मुक्ति दीजिए। इन्द्र ने कहा—महाराज ! ग्रब तो ग्रापके पुण्यों की संख्या ग्रौर भी ग्रधिक हो गयी है। ग्रापकी इच्छा पूर्ण होगी। अब ग्राप इस विमान में बैठकर ग्रमरपुरी को चलिए।

पितृचरण ! उस समय राजा इन्द्र के साथ चल पड़े ग्रौर हम नारकीय जन भी नरक यन्त्रणा से मुक्त होकर ग्रलग-अलग योनियों में उत्पन्न हुए। मैंने ग्रपने पूर्वस्मृति के ग्रक्षुण्ण रहने से इन सब बातों का वर्णन किया है। ग्राप इसे मिथ्या न समझें। ग्रब मैं ग्रापको इस विषय में ग्रौर क्या बताऊं ? पुत्र के इन वचनों को सुनकर ब्राह्मण ने कहा—हे ज्ञान-निधान पुत्र ! ग्रब मुझे यह बताग्रो कि मैं क्या करूं ग्रथवा मुझे कैसा जीवन व्यतीत करना चाहिए ?

अपने पिता के इन वचनों को सुनकर पुत्र को ग्रति ग्रानन्द हुआ ग्रौर वह बोला—हे तात ! यदि ग्रापकी मेरे वचनों में इतनी श्रद्धा है तो ग्राप ग्रब मेरे विचारानुसार गृहस्थाश्रम का त्याग कर वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कीजिएगा। इस स्थिति में सब मोह-मायादि का त्याग कर योग-साधना में रत होइये। परिग्रह को त्यागकर आत्मा से ग्रात्मा का संयोग कर निर्द्वन्द और निष्परिग्रही बनिये। एकान्तवासी योगी बनकर ग्राप उस योग को प्राप्त कीजिए जिससे आपको पंचभूत-मय इस शरीर की पुनः

प्राप्ति न हो और आप मोक्षलाभ कर सकें।

पिता ने जिज्ञासा प्रकट करते हुए कहा—हे पुत्र ! वह परम योग क्या है जिससे मुझ जैसे माया में लिप्त आसक्त जीवों को मोक्ष सुलभ होता है। कृपापूर्वक अब उस विश्वताप से तपित मेरे इस मन को ज्ञान-उपदेश रूपी अमृतवारि से सुशीतल करो तथा मेरे लिए मोक्ष का द्वार खोल दो। इस पर पुत्र ने कहा—प्राचीन समय में परमज्ञानी तथा दिव्य बुद्धि सम्पन्न दत्तात्रेय जी ने अलर्क के प्रति जो योगोपदेश किया था वही मैं आज आप को सुनाने लगा हूं।

किन्तु इससे पूर्व महर्षि दत्तात्रेय और अलर्क के विषय में भी मुझे कुछ बतलाओ। पिता के इस प्रकार के अनुरोध पर पुत्र ने यह वृत्तान्त सुनाया।

किसी समय में प्रतिष्ठान नगर में कुशिक वंशीय एक अति क्रोधी ब्राह्मण निवास करता था। कर्मफलानुसार उसे अतिदुःखदायी कुष्ठ रोग ने ग्रस लिया, किन्तु उसकी परम सुशील पतिव्रता भार्या उसकी सेवा को ही अपना एकमात्र धर्म मानकर निरन्तर उसकी सर्व प्रकार से सेवा करती रही। वह उसके मलमूत्रादि की सफाई करती, उसे स्वच्छ वस्त्र पहनाती, एकान्त में उससे मधुर सम्भाषण कर वह उसका मनोरंजन भी करती, किन्तु द्विज फिर भी अपनी पत्नी से प्रसन्न नहीं रहता था। वह बार-बार उसे फटकारता रहता और भला-बुरा कहता रहता था। इस पर भी उस कुलांगना ने अपने मन में कभी विकार नहीं आने दिया तथा वह पति को ही परमेश्वर समझकर सदैव उसकी पूजा ही करती रही। एक दिन उस अपंग कुष्ठ रोगी पति ने अति कामविवश होकर अपनी पत्नी से कहा—मेरे मन में एक अति सुन्दरी वेश्या बसी है और उसके बिना मैं जीवित नहीं रह सकता। मेरे मन में उससे भोग करने की इच्छा प्रबल हो चुकी है। रात्रि की इस बेला में ही तुम मुझे उसके पास ले चलो। कामुक पति के अनुचित प्रस्ताव का विरोध किये बिना पत्नी ने उसे अपने कन्धों पर बिठा लिया और अन्धकार में शनैः शनैः आगे बढ़ने लगी। मार्ग में चोरों के हित गाड़ी गई सूली पर चढ़े तपस्यारत माण्डव्य ऋषि के चरण से उस द्विज का अंग टकरा गया। ऋषि ने कुपित होकर शाप दे दिया—जिस व्यक्ति ने मेरी साधना में विघ्न डाला है—वह सूर्योदय होते ही मृत्यु को प्राप्त होगा। इस शाप को फलहीन करने के लिए द्विजभार्या ने कहा—अब सूर्योदय होगा ही नहीं। फलतः कई दिनों तक सूर्य ही उदित नहीं हुआ। यह देख देवगणों को बड़ी चिन्ता हुई। वे सोचने लगे—सूर्योदय के अभाव में सारी सृष्टि की व्यवस्था ही डगमगा

जाएगी। सम्पूर्ण सृष्टि के अमंगल और विनाश की कल्पना मात्र से व्याकुल देवताओं ने प्रजापति ब्रह्मा जी से सहायता करने की प्रार्थना की। इस पर ब्रह्मा जी ने कहा—सतीत्व व पतिसेवा से दिव्य एवं अभूतपूर्व शक्तिमयी देवी अनसूया ही इस दिशा में आप लोगों की सहायता कर सकती है। उनके वचन सुनकर देवगण सुरपति इन्द्र के नेतृत्व में अत्रि मुनि की भार्या अनसूया के पास पहुंचे और उनके प्रति अपनी समस्या निवेदित की। अनसूया ने उन्हें पूर्ण सहायता का वचन दिया। वे उस पतिव्रता ब्राह्मणी के पास पहुंचीं और बोलीं—तुमने सच्चे नारी धर्म का पालन किया है। सर्वस्व पुण्य तथा धर्म आदि पति ही है। पति की सेवा के अतिरिक्त नारी के लिए किसी अन्य आचरण की कोई आवश्यकता नहीं। तुमने उसका पूर्ण पालन किया है और सचमुच ही तुम धन्य हो। तुम्हारे इसी प्रताप से दस दिनों से भगवान् भुवनभास्कर का उदय नहीं हो पा रहा है। चतुर्दिक 'त्राहि-त्राहि' मची हुई है। अब तुम ऐसा कुछ करो जिससे सूर्य भगवान् के दर्शन हो सकें। इस पर ब्राह्मणी ने कहा—देवी! आप जो कहेंगी वही होगा किन्तु माण्डव्य ऋषि के शापवश मेरे पति का तो प्राणान्त हो ही जायेगा। अनसूया ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—तुम्हारे पति को नवजीवन दान देना मेरा दायित्व होगा। ब्राह्मणी की स्वीकृति पाते ही देवी ने ज्योंही अन्तर्धान किया त्योंही सूर्य भगवान प्राची में उदित हो गये और उधर ब्राह्मण के प्राण-पखेरु उड़ गये। शीघ्र ही अनुसूया जी ने अपनी पतिसेवा-शक्ति से अर्जित प्रभाव से उसे नवजीवन, नवकाया और नवयौवन के साथ ही सौ वर्षपर्यन्त निरोग जीवन यापन करने का वरदान प्रदान किया।

सूर्योदय होने से देवगण अति आह्लादित हुए तथा देवराज ने अत्रिपत्नी से वरदान मांगने को कहा। उन्होंने कहा—यदि आप प्रसन्न हैं और मुझे वरदान देना ही चाहते हैं तो यह वरदान दीजिए कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश मेरे पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करें। देवताओं ने तथाऽस्तु कहकर यह वरदान प्रदान कर दिया। कालान्तर में ये ही त्रिदेव अत्रि मुनि की पत्नी अनुसूया के गर्भ से क्रमशः सोम, दत्तात्रेय और दुर्वासा के रूप में जन्मे। दत्तात्रेय महान ज्ञानी व योगी थे, अतः मुनिकुमार उन्हें सदा घेरे रहते थे, उनसे छुटकारा पा एकान्त करने के विचार से दत्तात्रेय जी ने नारी-संसर्ग, मद्यपान आदि व्यसनों का प्रदर्शन के रूप में प्रयोग किया, किन्तु मुनिकुमारों ने फिर भी उनका साथ न छोड़ा। अन्ततः वे अपनी भार्या सहित सह्याद्रि के प्रान्तर में तप-साधना करने लगे।

इसी बीच राजा कार्तवीर्य का निधन हो गया तथा प्रजाजनों ने सहस्रार्जुन से राज्यासन पर बैठने का निवेदन किया, किन्तु उन्होंने यह प्रार्थना अस्वीकार कर दी। उन्होंने कहा—यदि वणिकों से उनके लाभ का बारहवां भाग और गोप-ग्वालों से दधि-तक्रादि का छठा भाग कर रूप में ग्रहण कर के भी मैं प्रजा के सत्पालन में समर्थ न हुआ और दूसरों से प्रजापालन कराता रहा तो मेरी सब इष्टा-पूर्ति नष्ट हो जाएगी। अग्निहोत्र, सत्य, तप, वेदपाठन, अतिथि सत्कार व वैश्वदेव आदि इष्ट हैं। कूप सरोवर आदि बनवाना, उपयुक्त पात्र को दान देना आदि पूर्त है। इनके नष्ट होने से मुझे निश्चय ही नरक की प्राप्ति होगी। अतः प्रथम मुझे प्रजापालन में पूर्ण सक्षम बनना चाहिए। तभी मैं राज्यासन ग्रहण करूंगा, इस से पूर्व नहीं।

अर्जुन का दृढ़ निश्चय सुनकर गर्ग नामक एक वयोवृद्ध ऋषि ने उस से कहा—यदि तुम वास्तव में राजा का ऐसा आचरण करना चाहते हो जैसा कि तुमने कहा है तो तुम भगवान दत्तात्रेय से उपदेश ग्रहण करो। वे देवताओं द्वारा उपासित हैं और उन्होंने स्वर्ग का राज्य वापिस करने में देवराज इन्द्र की सहायता की है। यह सुनकर राजा ने प्रश्न किया—दत्तात्रेय जी ने किस प्रकार देवताओं की उपासना प्राप्त की और इन्द्र को कैसे उसका राज्य वापिस करवाया—मुझे आप यह वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुनाने की कृपा करें। गर्ग जी बोले—राजन! एक समय जम्भासुर दानवों का राजा बना और उसने देवताओं के विरुद्ध भयंकर संग्राम छेड़ दिया। देवराज इन्द्र और उनके साथियों ने उसका सामना और विकट युद्ध किया किन्तु उनकी पराजय हुई और वे इधर-उधर भाग चले। फलतः इन्द्र का राज्य उससे छिन गया। देवराज निराश होकर गुरु बृहस्पति के पास पहुंचे और उन्हें अपनी पूर्ण व्यथा-कथा कह सुनायी। इस पर गुरुदेव बोले—यदि तुम दानवों पर विजय चाहते हो तो व्यसनी दत्तात्रेय के पास जाओ और उनसे अनुनय-विनय करो, वे ही तुम्हारा कल्याण कर सकते हैं। इन्द्र के साथ देवतागण दत्तात्रेय जी के निकट पहुचे और उन्होंने उनकी इतनी सेवा की कि अन्ततः दत्तात्रेय जो को द्रवित होकर पूछना ही पड़ा—हे देवगण! आप किस प्रजोजन से मेरी इतनी सेवा कर रहे हैं। इस पर देवताओं ने उन्हें अपना प्रयोजन बताया। तब दत्तात्रेय ने किंचित हंसते हुए कहा—मैं दुराचारी और मद्यप हूं, फिर भला मैं किस प्रकार तुम्हारी मदद कर सकता हूं? देवताओं ने उत्तर में कहा—प्रभो! आपके अन्तर में निर्मल ज्ञान की आभा विद्यमान है जो किसी भी रूप में

भोग-विलास अथवा आसक्ति से ग्रस्त नहीं है। जैसे निर्मल प्रकाश और वायु किसी निम्न जाति के व्यक्ति के आंगन में पड़ने पर भी दूषित नहीं होते वैसे ही आपका ज्ञान भी किसी भोग-विलास आदि से दूषित नहीं होता है। आपके पार्श्व में विराजमान यह नारी साक्षात लक्ष्मी है तथा इससे न तो आप दूषित हुए हैं और न आपसे यह दूषित हुई है। देवताओं के इन वचनों से प्रभावित होकर भगवान् दत्तात्रेय ने उन्हें आदेश दिया कि वे दानवों को युद्ध के लिए ललकारें और उन्हें उनके पास ले आयें। वे उन दानवों को अपने दृष्टिपात से भस्म कर देंगे। देवताओं ने उनकी आज्ञा का पालन किया और वे दानवों से संग्राम करने लगे किन्तु उनसे जीत न सके। अतः उन्होंने भागकर दत्तात्रेय जी के आश्रम में आश्रय ग्रहण किया, दानव भी उनका पीछा करते हुए वहां पहुंचे और लक्ष्मी जी को वहां देख कर उनके रूप पर मोहित हो गये। दुष्ट दानव युद्ध करना भूल गये और लक्ष्मी-स्वरूपा उस नारी को पालकी में बिठलाकर और पालकी को सिर पर उठाकर चल पड़े। यह देखकर दत्तात्रेय जी ने कहा—देवगण! विधाता आपके अनुकूल है। लक्ष्मी सप्तम स्थान का अतिक्रमण कर दानवों के सिर पर जा बैठी है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वे उनके पास नहीं ठहरेंगी अन्यत्र चली जाएंगी। इस पर देवताओं ने लक्ष्मी जी के वास के सम्बन्ध में जानने की इच्छा प्रगट की तो दत्तात्रेय जी ने उन्हें बतलाया—लक्ष्मी चरण में हो तो गृहदात्री सिद्ध होती है, अस्थि में वास करने पर वस्त्र, रत्नादि देती है, गुह्य स्थान पर वास से स्त्री, अंक में आने पर पुत्र व हृदयवासी होने पर सर्वमनोरथ प्रदायनी होती है। कंठ स्थान में वास करने पर लक्ष्मी कंठाभूषण देती है, प्रवासी प्रियजनों के समागम में सहायक होती है। वाणी पर बसी होने पर लक्ष्मी लावण्य, कवित्व-शक्ति और यश देती है और यदि वे सिर पर आसीन हों तो विनाश करती हैं। अतः अब दानवों का नाश निश्चित है। मेरे दृष्टिक्षेप से तथा परनारी के साथ व्यभिचार करने से उनका तेज नष्ट हो चुका है। अतः हे देवगण! अब आप लोग सहज ही उन पर विजय लाभ कर सकते हो। तब देवताओं ने दानवों पर आक्रमण करके उनका विनाश कर दिया और लक्ष्मी जी दत्तात्रेय जी के पास वापस आ गईं। प्रसन्नचित देवताओं ने दत्तात्रेय जी का पूजन किया और वे महामुनि को प्रणाम करके भगवान् कृष्ण की जय-जयकार करते हुए वहां से चले गये। यह प्रसंग सुनाकर गर्ग ऋषि ने राजा से कहा—हे राजकुमार! यदि आप भी अपने अभिमत में सफल होना चाहते हैं तो उन्हीं भगवान् दत्तात्रेय जी की सेवा में उपस्थित होइये।

ऋषि का कथन सुनकर कार्तवीर्य अर्जुन भगवान् दत्तात्रेय की सेवा में उपस्थित हुआ और दत्तचित्त हो उनकी भक्ति-पूजा-अर्चना में लग गया। उसकी सेवा-वृत्ति को देखकर दत्तात्रेय जी ने उससे भी वही सब कुछ कहा, जो उन्होंने प्रारम्भ में देवताओं से कहा था। उसे ध्यान में रखते हुए राजकुमार ने कहा—भगवन् ! आप मुझे माया में आवृत्त क्यों करना चाहते हैं ? मैं आपके ज्ञान तथा आपकी क्षमता से सम्यक् परिचित हूं। आप मुझ पर कृपा कीजिए। इस पर दत्तात्रेय जी ने उससे वरदान मांगने को कहा तो वह बोला—भगवन् ! मुझे उत्तम ऋद्धि का वरदान दीजिए। मुझमें अणिमा-लाघिमादि सिद्धियों का समावेश हो और मैं सहस्रबाहु बन जाऊं। मुझे ज्ञान, शक्ति और पौरुष में कोई जीत न सके। केवल श्रेष्ठ तथा उदात्त मनुष्य के हाथों ही मेरी मृत्यु हो ? मैं दान, दक्षिणा करने में तथा भगवान् की अविचल भक्ति में मनसा-वाचा-कर्मणा रत रहूं। दत्तात्रेय जी ने उसे यह वरदान देते हुए कहा—तुम चक्रवर्ती सम्राट् बनोगे। तदुपरान्त कार्तवीर्य अर्जुन ने उन्हें प्रणाम कर उनसे विदा ली। घर आकर उसने अपनी प्रजा को बुलाकर अपनी राज्य-अभिषिक्त होने की इच्छा प्रकट की। फलतः मन्त्रियों ने ब्राह्मणों को बुला कर विधिपूर्वक उसके अभिषेक का आयोजन किया। इस अवसर पर अप्सराएं, किन्नर, नाग, पक्षी, तरु, गुल्म, सरित्, सरोवर, सागर तथा देवगण आदि सभी सुसज्जित वेशभूषा में पधारे। ब्रह्मा जी द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और दत्तात्रेय जी ने विधि-विधान से अर्जुन का अभिषेक सम्पन्न किया। इसके उपरान्त सरिता, सागर, ऋषि आदि ने उनका अभिषेक किया और वे हैहयराज के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने राज्यासन पर बैठते ही घोषणा कर दी कि मेरे अतिरिक्त कोई भी शस्त्रास्त्र धारण न करे। वे अकेले हो सब प्रकार से अपनी प्रजा की रक्षा करने लगे। युद्ध, दान, धर्म, दया तथा वीरता में उनके तुल्य कोई नहीं था। वे निःशंक भाव से एक चक्रवर्ती के समान राज्य करते रहे। उनकी ऐसी अद्भुत क्षमता व कीर्ति देखकर माण्डव्य ऋषि ने उनकी प्रशंसा में कहा—इनके सदृश नृपति न हुआ है और न होगा। भगवान दत्तात्रेय की उन पर कृपा का यह परिणाम है। भगवान दत्तात्रेय विष्णु रूप हैं और वे अपने भक्तों की सदा रक्षा करते हैं। वे दुष्टों के घालक तथा सज्जनों के सुपालक हैं।

यह सब कहने के उपरान्त ब्राह्मणपुत्र बोला—पितृचरण ! अब मैं आपको अलर्क का वृत्तान्त सुनाता हूं। आप दत्तचित्त होकर सुनिये।

प्राचीन काल की बात है कि शत्रत्रित् नामक एक अति धर्मात्मा

राजा थे। उनका ऋतध्वज नामक एक पुत्र था। वह परमज्ञानी, वीर, विवेकी, बली तथा सर्वगुण सम्पन्न था। उसने सभी शत्रुओं का सहज ही में विनाश कर दिया। उसका सारा समय शास्त्र के अध्ययन, मनन, शस्त्र-संचालन तथा मित्रों के साथ क्रीड़ा-कौतुक आदि में बीत जाता था। उस धर्मज्ञ एवं श्रेष्ठ राजकुमार की संगति में सभी वर्ण के युवक आते थे। उन में एक ब्राह्मणकुमार और एक वैश्यकुमार को उस राजकुमार की संगति में परम आनन्द की प्राप्ति होती थी। एक दिन पाताललोक के नागराज अश्वतर के दो पुत्र नररूप धारण कर उस राजकुमार के साथ क्रीड़ा करने पृथ्वीतल पर पहुंचे। उन्हें उसकी संगति में अत्यधिक आनन्द का अनुभव हुआ। अतः अब वे प्रतिदिन राजकुमार के पास आने लगे। राजकुमार, उसके अन्य सखा तथा नागकुमार क्रीड़ा, भोजन, मनोरंजन आदि सभी क्रिया-कलाप एक साथ किया करते थे। इस प्रकार उनकी मैत्री अति प्रगाढ़ हो गयी। परिणाम यह हुआ कि अब न तो राजकुमार उनके बिना रह सकता था और न ही नागकुमार पाताल में उसके बिना रात्रि में सुख अनुभव करते थे। वे राजकुमार की संगति प्राप्त करने के लिए व्याकुल हो जाते थे। एक दिन उनके पिता ने यह अनुभव किया कि उसके दोनों पुत्र केवल रात्रि की बेला में पाताल लोक में रहते हैं और सारा दिन कहीं अन्यत्र व्यतीत करते हैं। अतः उसने एक दिन उनसे इस विषय में पूछ ही लिया। अपने पिता को प्रणाम कर पुत्रों ने बड़ी श्रद्धापूर्वक अपने मित्र के विषय में सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया और उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस पर नागराज ने उनसे कहा—पुत्रो! सच्चा मित्र बड़ी कठिनाई से मिलता है और वही वास्तव में सच्चा मित्र है जिसकी पीठ पीछे भी प्रशंसा की जाए। शास्त्रों में कहा गया है कि मित्रता की परीक्षा उसके पीठपीछे की प्रशंसा होती है और पराक्रम की परीक्षा शत्रु को पराजित करने से होती है। ऐसे सच्चे मित्र के प्रति तुम्हें भी अपने कर्त्तव्य का पालन करना चाहिए और उपहार में उसे कुछ न कुछ देना चाहिए। हमारे पास जो भी रत्नादि हैं तुम उन्हें राजकुमार को दे सकते हो। पिता के ये वचन सुनकर नागकुमारों ने कहा—उस राजकुमार के पास सब कुछ है, सत्य तो यह है कि जो कुछ उसके पास है, वह तो हमारे पास भी नहीं है, वास्तव में उसे जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह हमारी शक्ति और क्षमता के बाहर है। केवल हिरण्य-गर्भ अथवा भगवान आशुतोष ही उसकी इच्छा की पूर्ति कर सकते हैं। यह सुनकर नागराज तनिक विचलित होकर बोले—यह तुम कैसी बात करते हो, उद्यम और साहस की बड़ी महत्ता है। उनके द्वारा

कोई भी वस्तु अप्राप्य नहीं । हां, कहो तो सही वह कौन-सी वस्तु है ? नागकुमारों ने पिता से कहा—एक बार राजकुमार ने हमें अपने विषय में कुछ बतलाया था । उनसे हमने जो कुछ सुना वह इस प्रकार है—

एक बार गालव ऋषि एक अश्व को लेकर राजा विश्वजित के पास पहुंचे और राजा ने जब उनसे आने का प्रयोजन पूछा तो ऋषि ने उससे कहा—महाराज ! मैं तपस्या करता हूं, किन्तु एक राक्षस मेरे उस तप को भंग करता रहता है । वह माया से विभिन्न पशुओं का रूप धारण कर लेता है । यद्यपि मैं उसका संहार करने में सक्षम हूं तथापि मैं यह नहीं चाहता कि ऐसा करके मैं अपनी इतने दिनों की अर्जित तपस्या को नष्ट करूं, अत: मैं आपकी सेवा में आया हूं, आप ही मेरी सहायता कर सकते हैं । ऋषि बोले—महाराज! एक दिन जब मैं तपस्यारत था तो आकाशसे यह अश्त्र पृथ्वी पर गिर पड़ा और साथ ही आकाशवाणी हुई कि यह अद्भुत अश्व है जो शक्ति में ऐरावत के तुल्य है। यह बिना रुके-थके सम्पूर्ण भूमण्डल की परिक्रमा कर सकता है। यह विश्व में कुवलय नाम से प्रसिद्धहोगा । आपका पुत्र इस पर सवार होकर उस दानव का वध कर सकता है । इसी प्रयोजन से मैं आपकी सेवा में आया हूं । राजा ने प्रसन्न मुद्रा में अपने पुत्र को बुलाया और उपयुक्त संस्कारों के पश्चात उसे अश्वारूढ़ करके गालव ऋषि के साथ भेज दिया ।

गालव ऋषि के साथ राजकुमार ऋतध्वज के उनके आश्रम में पहुचने से सभी सज्जनों-सन्तों को आनन्द मिला, किन्तु दुष्ट दानव को यह वृत्त ज्ञात न हो सका, अत: ज्योंही ऋषि अपनी तपस्या में लगे, त्योंही वह दानव सूकर का रूप धारण कर अपने अंगों से उनके शरीर का घर्षणकरने लगा । ऋषियों द्वारा आर्त्त-स्वर में पुकारे जाने परकुवलयाश्व पर आसीन राजकुमार ने शूकरपर शर-संधान किया और वह घायल हो कर भागा तो राजकुमार ने उसका पीछा किया । इस प्रकार उस शूकर का पीछा करते हुए रात्रि हो गई तथा अन्धकार के कारण वह शूकर एक गर्त में गिर पड़ा । राजकुमार भी अंधकार के कारण गर्त को देख नहीं पाया और अश्व सहित उसमें जा पड़ा, किन्तु वह दानव वहां भी दृष्टिगत नहीं हुआ। वह आगे बढ़ता चला गया और अन्तत: प्रकाशयुक्त पाताल में जा पहुंचा । वहां भी दानव के दर्शन न हो सके किन्तु एक भव्य महल पर राजकुमार की दृष्टि पड़ी तो वे उस प्रासादके अन्दरप्रविष्ट हुए। वहां कोई भी व्यक्ति नहीं था । कुछ पल में उन्हें एक क्षीणकाय सुन्दरी दृष्टिगत हुई। उन्होंने उससे कुछ प्रश्न किये किन्तु वह बिना कोई उत्तर

दिये द्रुतगति से महलके अन्दर चली गई। राजकुमार ने भी उसका अनुसरण किया। वे एक सुन्दर कक्ष में पहुंचे। वहां उन्हें रति से भी अधिक सुन्दर बाला दिखलाई पड़ी। वह श्यामा सुन्दरी एक स्वर्णपर्यंक पर लेटी हुई थी। राजकुमार उस पातालसुन्दरी के प्रति मुग्ध हो गये। उस बाला ने भी राजकुमार को देखकर अनुमान किया कि हो न हो यह कामदेव ही है, अतः वह उससे मिलने के लिए आतुरतापूर्वक उठ बैठी, किन्तु पुनः सहज लाज के कारण वह वैसा न कर सकी। मुग्ध राजकुमार ने उससे उसका परिचय पूछा तो उसने अपनी सखी को अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया और सखी ने सब बातें राजकुमार को इस प्रकार सुना दीं। उसने कहा—हे राजकुमार! यह सुन्दरी स्वर्ग के विख्यात गन्धर्वराज वसु की कन्या मदालसा है। वज्रकेतु दानव के मायावी पुत्र पातालकेतु ने इस का अपहरण करके इसे यहां रख दिया है। वह आगामी त्रयोदशी को इस से विवाह रचाने वाला है किन्तु वह इसके योग्य पात्र नहीं है, अतः कल जब इसने घोर निराशा से ग्रस्त होकर आत्महत्या का निश्चय किया तो सुरभि ने इससे कहा—तुम आत्मवध मत करो। यह दानव पृथ्वीलोक से आये किसी मानव द्वारा हत होगा और वही तेरा पति भी बनेगा। मैं इसकी सखी कुण्डला हूं। मेरे पिता का नाम विन्ध्यवान् तथा पति का पुष्कमाली है। मेरे स्वामी शुंभ के हाथों मारे गये हैं और मैं उनकी मृत्यु के बाद तीर्थभ्रमण करती रहती हूं। आज जब मुझे ज्ञात हुआ कि वह दानव आहत हुआ है तो मैं उसे आहत करने वाले के विषय में जानने को आतुर हो उठी और उसी प्रयोजन से भागती फिरी। हे वीर! अब तुम बतलाओ कि देव, किन्नर, गन्धर्व अथवा यक्ष में से तुम कौन हो। मानव तो तुम हो नहीं सकते, क्योंकि मनुष्य न तो इतना सुन्दर हो सकता है और न पाताल लोक में आ सकता है। तुम अपना सत्य तथा पूर्ण परिचय दो।

सुन्दरी के इस प्रकार से प्रश्न करने पर राजकुमार ने अपना पूर्ण परिचय देते हुए दानव को आहत करने तक का वृत्तान्त कह सुनाया जिसे सुन कुण्डला हर्ष तथा आनन्द से तृप्त होकर अपनी सखी मदालसा की ओर देखने लगी। तब उसने राजकुमार से निवेदन किया—आप इस गन्धर्व कन्या से विवाह करके इसे कृतार्थ कीजिएगा। राजकुमार ने उत्तर दिया—हे सुन्दरी! यह तो सम्भव नहीं है। पितृ-आज्ञा के बिना मैं यह कार्य कैसे कर सकता हूं? इस पर कुण्डला ने उसे प्रबोधित करते हुए कहा—यह गन्धर्व कन्या है तथा आपसे विवाह हेतु प्रतिबद्ध भी है, अतः पितृ-आज्ञा के बिना भी आप इससे विवाह करने के अधिकारी हैं। राज-

कुमार ने विवाह की अनुमति प्रदान कर दी तो गन्धर्व कन्या ने मन-ही-मन अपने कुल-गुरु तुम्बरु का ज्यों ही स्मरण किया त्यों ही वे कुशादि ले कर तत्क्षण वहां प्रकट हो गए। उन्होंने और कुण्डला ने सब प्रकार का आयोजन कर विधिवत् विवाह सम्पन्न कराया। तब नव-दम्पती को आशीर्वाद देकर तुम्बरु निज स्थान को चले गये।

अपनी सखी को विवाह-बन्धन में देखकर कुण्डला को परम आनन्द प्राप्त हुआ। उसने दोनों को प्रणयसूत्र में बंधा देखकर आशीर्वाद दिया और राजकुमार को संबोधित करते हुए कहा—हे दिव्य रूप वाले राजकुमार! मैं क्या कोई भी आपको उपदेश अथवा शिक्षा देने योग्य नहीं है। आप स्वयं अपूर्व ज्ञानी तथा सर्वशास्त्र पारंगत हैं किन्तु फिर भी अपनी सखी के प्रति स्नेहभाव से प्रेरित होकर मैं विदाई से पूर्व कुछ कहना चाहती हूं। स्त्री-पुरुष दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। नारी के बिना नर को धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति नहीं होती और यदि होती भी है तो उसका निर्वाह सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार नारी को भी पुरुष के बिना इनमें से कुछ भी प्राप्त नहीं होता। अतः पति-पत्नी के रूप में बद्ध हो जाने पर दोनों को परस्पर परम प्रीतिपूर्वक रहते हुए धर्म, अर्थ तथा काम की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। परमात्मा आपके वैवाहिक जीवन को सफल बनायें। यह आशीर्वाद देकर और राजकुमार को प्रणाम करके वह वहां से चली गई। उसके जाने के उपरान्त राजकुमार भी मदालसा को साथ लेकर पाताल लोक से निकलने का आयोजन करने लगे किन्तु तभी दानव को यह समाचार प्राप्त हुआ और वह अपनी सेना सजाकर राजकुमार से युद्ध करने आ गया। कुवलयाश्व की पीठ पर सवार उस परम पराक्रमी योद्धा के सामने दानव-वाहिनी वैसे ही असहाय व असफल हो गई जैसे गरुड़ के सामने पक्षियों के गोल के गोल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उनके आग्नेयास्त्रों के प्रभाव से सभी दानव भस्मसात् हो गये और राजकुमार विषय-घोष करते हुए सुन्दरी मदालसा सहित अपने पिता के सम्मुख पहुंचे। पिता ने अपने यशस्वी पुत्र की वीरगाथा सुनी तो उनका माथा गर्व से और ऊंचा उठ गया। उन्होंने कहा—उसी पिता का जीवन सार्थक है जिसका पुत्र यश में अभिवृद्धि करने वाला हो। आज तुमने अपने पराक्रम, अपने ज्ञान और अपने सदाचरण से मेरे गौरव तथा मेरी कीर्ति को सहस्र गुना कर दिया है, अतः आज मेरा पितृत्व सफल हो गया। तात! तुम इसी प्रकार आगे भी और अधिक समृद्धि, गरिमा, गौरव तथा शक्तिलाभ करते रहो। पिता से इस प्रकार आशीर्वाद प्राप्त कर राज-

कुमार अपनी भार्या के साथ सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगा किन्तु यह स्थिति अधिक दिनों तक न रह सकी क्योंकि पिता की आज्ञा पा कर राजकुमार को पुनः ऋषियों, साधकों तथा तपस्वियों की रक्षा और दानवों के विनाश के लिए जाना पड़ा।

पिता की आज्ञा पालन करने के रूप में ऋषि-मुनियों के यज्ञ-यजनादि की रक्षा करते हुए राजकुमार ऋतध्वज अपना समय सत्कार्यों में लगा रहे थे। इसी बीच पातालकेतु का लघु भ्राता तालकेतु अपने पूर्वबैर के वशीभूत होकर ऋतध्वज से अपने भाई की मृत्यु का प्रतिशोध लेने के विचार से ऋषि का वेश धर उनके निकट आया और बोला—हे सत्यनिष्ठ दृढ़प्रतिज्ञ राजकुमार! मैं आपके पास बड़ी आशा से आया हूं, आप कभी किसी की प्रार्थना को अस्वीकार नहीं करते। मैं इस यमुना नदी में यज्ञ तथा यजन करने का अभिलाषी हूं किन्तु मेरे पास दक्षिणा देने के लिए भी नहीं है। इसके अतिरिक्त दानव मेरे यज्ञ-विधान में विघ्न भी डाल सकते हैं, अतः आप दक्षिणा के लिए अपना कंठाभरण मुझे दीजिए तथा जब तक मैं यज्ञ-कर्म पूर्ण कर नदी से बाहर नहीं आ जाता आप तट पर सजग रहकर मेरी प्रतीक्षा करते रहिए। राजकुमार ने उसे कंठाभरण देते हुए आश्वस्त किया। तब वह कपटाचारी यमुना जल में प्रविष्ट हुआ और दूसरी दिशा से बाहर निकलकर राजकुमार के राज्य की ओर चल दिया। वहां पहुंचकर उसने राजा व अन्यान्य प्रजाजनों को बतलाया कि राजकुमार ऋतध्वज ऋषि-मुनियों के याग-यज्ञादि की रक्षा करते हुए एक दुर्द्धर्ष दानव द्वारा मारे गए हैं। अपनी मृत्यु के समय उन्होंने यह कंठाभरण मुझे दिया है। इतना कहकर वह उसको उन्हें सौंपकर वहां से चला गया।

महायशस्वी धर्मज्ञ तथा प्रजापालक राजकुमार की मृत्यु के समाचार से चारों ओर कुहराम मच गया। सभी घोर विलाप करने लगे। मदालसा तो चेतनाशून्य होकर भूमि पर गिर पड़ी तथा क्षण में ही प्रिय-वियोग से उसके प्राण-पखेरू उड़ गए। यह दृश्य देखकर राजा ने अपने हृदय में धैर्य धारण कर उपस्थित प्रजाजनों को सम्बोधित करते हुए कहा—हे प्रजाजनो! किसी भी प्रकार का शोक मत करो। मेरे पुत्र ने जन्म सार्थक कर दिया है। जीवन की सार्थकता सद्धर्म हेतु प्राणार्पण करने में ही है। उस ने धर्म की रक्षा तथा अधर्म के विनाश में प्राणोत्सर्ग कर हम सभी को धन्य कर दिया है। उसकी अर्द्धाङ्गिनी ने भी पति को परमेश्वर मानकर उसी के मार्ग का अनुसरण किया है, अतः वह भी विलाप किये जाने योग्य नहीं

है। वे दोनों ही धन्य हैं, अतः उनके लिए अब अश्रुपात करना ठीक नहीं है। अपने पति के अनुरूप ही रानी ने भी पुत्रमरण को सार्थक रूप में स्वीकार किया और कहा—पुत्र ने जिस महान कृत्य के लिए अपना बलिदान दिया है, उसी के लिए मानव का जन्म होता है। ऐसे पुत्र को पाकर आज मेरा जन्म, मेरा मातृत्व सफल हो गया है। मेरी जननी से, मेरी बहनों से तथा मेरे भाइयों से जो कुछ मुझे नहीं मिल पाया, वह आज मेरे पुत्र ने मुझे दे दिया है। मैं धन्य हूं। तदुपरान्त राजा शत्रुजित् ने पुत्रवधू का दाह संस्कार कर अपने पुत्र के निमित्त विभिन्न जलाञ्जलि दीं।

उधर तालकेतु पुनः नदी मार्ग से बाहर निकलकर राजकुमार के निकट पहुंचा। उसने अपने अभीप्सित की सफल पूर्ति के लिए राजकुमार के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित की तथा उन्हें घर जाने की अनुमति दी।

राजकुमार ऋतध्वज अपने कुवलयाश्व पर आसीन हो जब अपने राज्य में पहुंचे तो उनके वियोग में व्याकुल जन हर्षोत्फुल्ल हो पुकार उठे। धन्य भाग, धन्य भाग। राजकुमार ने माता-पिता को प्रणाम कर मदालसा से मिलने की इच्छा प्रकट की।

प्रजाजनों की विचित्र मनोदशा को देखकर राजकुमार को विस्मय होना स्वाभाविक था। उनके इस विस्मय को तथा मदालसा से मिलने की उसकी तीव्र उत्कण्ठा को देखकर राजा शत्रुजित ने अपने पुत्र को सारा वृत्तान्त सुना दिया। उसे सुनकर राजकुमार ऋतध्वज कुछ काल विस्मय-विमूढ़-सा रह गया और फिर मदालसा के लिए विलाप करने लगा। वह सोचने लगा कि हाय मैं कितना अभागा व स्वार्थी हूं कि उस प्राण-प्रिया के बिना जीवित हूं, जिसने मेरी मृत्यु का समाचार मात्र सुनकर अपने प्राण त्याग दिए। मुझे भी अब जीवित रहकर क्या करना है? किन्तु नहीं, मुझे अपने प्राण नहीं त्यागने चाहिएं। इन पर मेरे माता-पिता का ऋण है और इस प्रकार इन्हें त्याग देना कायरता है। यह पुरुषोचित कार्य नहीं है, अतः मुझे जीवित तो रहना ही होगा किन्तु मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अब मैं किसी अन्य कन्या से पुनः विवाह नहीं करूंगा। यह निश्चय कर राजकुमार ने राजकुमारी मदालसा को अन्तिम श्रद्धांजलि दी। हे पिताजी! उसी समय से वह सब मित्रों के साथ खेलता-खाता तथा मनोरंजन आदि तो करता रहता है किन्तु विवाह करने को तैयार नहीं। उस की मदालसा को वापिस लाने में हम किसी भी प्रकार समर्थ नहीं हैं।

नागराज ने पुत्रों से यह वृत्तान्त सुना और तब किंचित हास्यपूर्वक कहा—पुत्रो! उद्यम तथा प्रयत्न की बड़ी महत्ता है। उद्यम से यह कार्य

भी असम्भव वहीं है। मैं तप द्वारा इसे सफल कर दिखाऊंगा। इतना कुछ कर वे हिमालय की ओर चल पड़े और प्लक्षावतरण नामक स्थान पर पहुंचकर साधनारत हो गए। उन्होंने निराहार रहकर सरस्वती देवी की स्तुति प्रारम्भ की और थोड़े समय में अपनी कठोर तपस्या एवं स्तुति से देवी को प्रसन्न कर लिया। देवी ने प्रकट होकर नागराज अश्वतर को दर्शन दिए और उनसे वर मांगने को कहा। नागराज ने प्रणत होकर कहा—देवी ! आप सर्वज्ञ हैं, आप ही तीन ज्योति, तीन वर्ग, तीन धर्म, तथा तीन आश्रम-रूपा हैं। पृथक्-पृथक् सम्प्रदायों के निमित्त आप ही सोम संस्था, हवि संस्था और पाक संस्था रूप से आद्य और सनातन सप्त-विधि-व्याहृति के रूप में वेदों में निरूपित हुई हैं। आपके रूपादि शक्ति का और ज्ञान का वर्णन कर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। इससे प्रसन्न हो देवी ने नागराज को पुनः वरदान मांगने को कहा तो वे बोले—देवी ! आपकी जय हो। आप प्रसन्न हैं यह मेरा अहोभाग्य है। अब आप मेरे भाई कम्बल को तथा मुझे समस्त स्वर अर्थात् श्रुति, ग्राम व मूर्च्छनादि प्रदान करने की कृपा कीजिए। देवी 'तथाऽस्तु' कह अन्तर्द्धान हो गईं। देवी के वरदान से नागराज और कम्बल, भू, स्वर्ग व पाताल-व्यापिनी सभी विद्या-कलादि में पारंगत हो गए। तदुपरान्त दोनों ने परम श्रद्धापूर्वक एकनिष्ठ भाव से भगवान् आशुतोष कामारि शिव की भक्ति-उपासना की। उनके सस्वर मधुर मोहक गायन से शिवजी शीघ्र ही प्रसन्न हो गए और उन्होंने दर्शन देकर वरदान मांगने को कहा। उन्हें प्रसन्न जानकर नागपति अश्वतर ने कहा—आप देवादिदेव सर्व शक्तिमान व सर्वज्ञ हैं, मुझे आप यह वरदान दीजिए कि ऋतध्वज कुवलयाश्व की पत्नी मदालसा जिस रूप आयु में मृत्यु को प्राप्त हुई है उसी में मेरे घर में जन्म ग्रहण करे। उसमें पूर्ववत् रूप, सौन्दर्य तथा कान्ति हो। इसके अतिरिक्त वह पूर्ववत जातिस्मरा तथा योगिनी हो। महादेव जी ने 'तथाऽस्तु' कहते हुए उससे कुछ विशेष बातों पर ध्यान देने को कहा। उन्होंने बतलाया जब श्राद्ध करने का समय आये तो पवित्र मन से सावधानी के साथ मध्यपिण्ड ग्रहण करो। इस प्रकार मुझमें भक्ति और पितरों के प्रति श्रद्धा भाव से युक्त होकर जब तुम श्वास छोड़ोगे तो तुम्हारे माध्यम फल से मदालसा उसी रूप में प्रगट होगी, जिस रूप में उसने अपने प्राण त्यागे थे। आशुतोष शिव से यह वरदान प्राप्त कर दोनों भाई उन्हें प्रणाम करके विदा हुए।

समय बीतने के साथ ही श्राद्ध का भी समय आ पहुंचा। नागराज अश्वतर ने भगवान महेश्वर द्वारा बतलाई विधि से श्राद्धतर्पण किया तथा

श्वास छोड़ा। शीघ्र ही कृशांगी मदालसा अपने पूर्वरूप में प्रकट हो गई। नागराज ने उसके प्रगट होने का वृत्तान्त गुप्त ही रखा। इधर उसके पुत्र पूर्ववत राजकुमार के पास जाया करते थे। एक दिन पिता ने पुत्रों से कहा-- अपने उस सुयोग्य मित्र को यहां बुलाकर क्यों नहीं लाते ? मैं भी उस महातेजस्वी को देखना चाहता हूं। पुत्रों ने पितृआज्ञा का पालन करते हुए एक दिन राजकुमार को अपने साथ चलने का निमन्त्रण दिया। निमन्त्रण पाकर कुमार बोले— हममें और आपमें अन्तर ही क्या है ? मित्र ! हम तो विभिन्न शरीर एकप्राण हैं। यह भी तो आपका ही देश है। यहां भी जो कुछ है वह सब आपका ही है, फिर यह भेदभाव क्यों ? राजकुमार के परम मैत्रीपूर्ण एवं विनयशील शब्दों को सुनकर नागकुमारों ने कहा— यह तो सत्य है किन्तु मित्र, हमारे पूज्य पिताजी भी आपसे मिलने को उत्सुक हैं। यदि आपके पिताजी की आज्ञा है तो मैं अवश्य चलूंगा। कहते हुए ऋतध्वज परोक्ष रूप में उन्हें प्रणाम कर उन राजकुमारों के साथ चल पड़े।

राजकुमार के विस्मय का कोई अन्त नहीं रहा जब उसे ज्ञात हुआ कि मेरे मित्र नागपुत्र व पातालवासी हैं। फिर भी वह निर्भीक होकर उनके साथ जाता रहा। पाताललोक की सृष्टि देखकर वह मन्त्रमुग्ध हो गया और उससे मिलकर सभी नाग-प्रजाजनों में आनन्द की लहर दौड़ पड़ी। क्रमशः चलते हुए जब सब लोग नागराज के प्रासाद में पहुंचे तो दोनों नागकुमारों ने राजकुमार ऋतुध्वज के आगमन का सुसमाचार प्रणामपूर्वक अपने पिता को सुनाया। राजकुमार ने नागराज के निकट जाकर उन्हें प्रणाम किया और नागराज ने उसे उठाकर वक्ष से लगाकर सिर सूंघकर सदा जयी होने तथा चिरंजीवी रहने का आशीर्वाद दिया। इसके उपरान्त उन्होंने कहा – हे कुमार ! तुम धन्य हो और धन्य हैं वे माता-पिता, जिन्होंने तुम्हारे समान पुत्र को जन्म दिया है। वस्तुतः पुत्र वही धन्य है, जो अपने माता-पिता के यश. आनन्द तथा सुनाम में अभिवृद्धि करता है। मित्र वही है जिसके साथी परोक्ष में भी उसकी प्रशंसा करते हैं। जन्म उसी का सार्थक है जिसे अपने बीच पाकर सभी को आनन्द की प्राप्ति होती है और हे श्रेष्ठ राजकुमार ! ये सभी गुण तुममें विद्यमान हैं। अब तुम कुछ समय यहां हमारे साथ वास करो। हम साथ-साथ ही भोजन पान-स्नान आदि करेंगे। राजकुमार ने मौन स्वीकृति प्रदान कर दी जिस से उसका समय अश्वतर और उसके पुत्रों की संगति में सानन्द बीतने लगा।

नागाधिपति अश्वतर के राज्य में राजकुमार ऋतध्वज अपने दोनों सखाओं के साथ आमोद-प्रमोद में दिन व्यतीत करते रहे। तब एक दिन सुयोग पाकर अश्वतर ने उससे कहा— वत्स! तुम मेरे पुत्रों के सखा व मेरे मान्य अतिथि हो। इस प्रकार तुम मेरे पुत्रवत् हो। पुत्र अपने माता-पिता से किसी प्रकार का संकोच नहीं करना, अतः तुम भी सर्वप्रकार का संकोच त्यागकर मुझे बतलाओ कि मैं तुम्हें उपहार में क्या दूं? मेरे मन में कुछ देने की उत्कट इच्छा है।

राजकुमार ने उत्तर में कहा- महाराज! आप पितृ-तुल्य ही नहीं देवता रूप भी हैं, अतः मेरे लिए परम पूज्य हैं। आपके अंग-संग से तथा पाद-पद्मों के रज से ही मेरा जीवन धन्य हो गया है। मुझे अब कुछ नहीं चाहिए क्योंकि आपकी परम कृपा से मेरे पूज्य तात की छत्र-छाया मुझ पर है तथा उनके पास धन-धान्य और रत्न-धन आदि का समृद्ध भण्डार है, अतः मुझे किसी भी वस्तु की कामना नहीं। हे उरगाधीश! यदि मुझे किसी पदार्थ की इच्छा हो भी तो मैं याचना नहीं करूंगा क्योंकि मेरी वाणी दीनतापूर्वक याचना करने की अभ्यस्त नहीं है। आपका अनुग्रह ही मेरा सर्वस्व है।

पन्नगराज ने कहा—वत्स! तुमने जो कहा, वह सत्य है। धर्मात्मा व्यक्ति के लिए धर्म ही धन है, किन्तु फिर भी भूलोक में जिसे तुम प्राप्त करने में असमर्थ हो, वही मुझसे मांगो। यदि वह असम्भव भी हुआ तो भी मैं उस वस्तु को देने की प्रतिज्ञा करता हूं।

यह सुनकर राजकुमार अपने मित्रों की ओर देखने लगा। तब वे नागकुमार अपने पिता से बोले—पूज्यपाद! राजकुमार ऋतध्वज को केवल अपनी भार्या मदालसा का ही अभाव है। उसे किसी कुटिल कपटाचारी दानव की कुचाल से अपने प्राण त्यागने पड़े। उस पतिप्राणा के अभाव में कुमार ने किसी अन्य स्त्री से संसर्ग न करने का प्रण किया है, अतः आप उसे ही वापस लाकर इन्हें सौंप दीजिएगा।

यह असम्भव कर्म है, मृतक को वापिस ला पाना किसी की सामर्थ्य नहीं यदि मैं उसेला भी सका तो वह छलना होगी, माया मात्र। यदि कुमार चाहे तो मैं उन्हें मायारूपी मदालसा के दर्शन करा सकता हूं। पन्नगराज के यह कहने पर मोहविवश राजकुमार ने मदालसा के मायारूप को देखने की इच्छा प्रगट की और अश्वतर ने घर के भीतर से मदालसा को बुलाया। उसे देखते ही राजकुमार मोहाभिभूत होकर उसकी ओर बढ़ा और सब लज्जा त्यागकर बोला—हा प्राणप्रिये मदालसा! किन्तु तभी

नागराज ने उन्हें रोका—उसे मत छुओ। वह माया है—छलना है। उस का स्पर्श करते ही वह अन्तर्धान हो जाएगी। इतना सुनते ही राजकुमार रुक गया और मदालसा का स्मरण करते हुए मूच्छित हो गया।

तब नागराज ने उसका उपचार कराया तथा उसके चेतना-युक्त होने पर उसे वह सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना दिया जो मदालसा को पुनः प्राप्त करने से सम्बद्ध था। उस वृत्तान्त को सुनकर तथा अपनी प्रिया को पुनः प्राप्त कर राजकुमार ऋतध्वज आनन्दातिरेक से भर गया। उसने अपने दोनों सखाओं और स्वयं राजा के प्रति अपनी अपूर्व एवं हार्दिक कृतज्ञता प्रकट की। तब उसने अपने राज्य को लौट जाने की इच्छा प्रकट की। राजा और अपने सखाओं से विदाई की अनुमति पाकर राजकुमार ने कुवलयाश्व का ध्यान किया और निमिष मात्र में वह अश्व वहां उपस्थित हो गया। राजकुमार सुन्दरी मदालसा सहित उस पर आरूढ़ होकर अपने राज्य में जा पहुंचा। उन दोनों ने अपने पूज्यजनों को सादर प्रणाम किया और उनका उपयुक्त आशीर्वाद प्राप्त किया। सास-श्वसुर की सेवा करती हुई मदालसा भी अपने प्रियतम के साथ आनन्दपूर्वक इधर-उधर विहार करने लगी। उनका जीवन सभी प्रकार से सम्पन्न एवं पूर्ण था।

ज्ञानी पुत्र अपने पिता से बोला—पूज्यपाद! राजा शत्रुजित दीर्घकाल तक सुशासन करके और आनन्द भोग करके काल-गति की प्रबलता से दिवंगत हुआ। तब प्रजाजन की कल्याण कामना से प्रेरित होकर ऋतध्वज सिंहासनासीन हुआ। उसके सुशासन से प्रजाजन का कल्याण हुआ तथा चतुर्दिक मंगल की वृष्टि होने लगी।

प्रभु के परम प्रताप से और राजा ऋतध्वज के पुण्य फल से रानी मदालसा ने चार पुत्र-रत्नों का प्रसव किया। पिता ने प्रथम तीन के नाम विक्रान्त, सुबाहु और शत्रुमर्दन रक्खे। अन्तिम पुत्र को जननी ने 'अलर्क' नाम प्रदान किया।

ऋतध्वज द्वारा पुत्रों के नामकरण के अवसर पर रानी को हंसी आती रही किन्तु उसने अपने मातृत्व को कहीं भी शिथिल नहीं होने दिया। अपने पुत्रों को दुलारने अथवा उनके प्रति स्नेह प्रकट करने के मिस वह उन्हें योग और आध्यात्म का ज्ञान कराने लगी। शिशु भी आयु-वृद्धि के साथ ही साथ योग और आध्यात्म के प्रति अधिकाधिक रुचि दिखलाने लगे। माता के उपदेशों का फल यह हुआ कि न तो उन्हें अपने शरीर से मोह रह गया और न ही विश्व के प्रति उनकी आसक्ति ही रही। फलतः वे सभी योगी हो गए। चतुर्थ पुत्र के नामकरण के अवसर पर जब मदालसा

को पुनः हंसी आई तो राजा ने किंचित विस्मय के साथ उससे प्रश्न किया—हे सुभगे! विगत में जब कभी मैंने पुत्रों का नामकरण किया तो तुम्हें हंसी आई थी, तद्वत आज भी तुम हंसी हो। सुमते ! मुझे इसका कारण बतलाओ। मदालसा ने पति से कहा—प्राणेश्वर ! यह तीनों नाम निरर्थक हैं क्योंकि जीव ब्रह्म का ही रूप है, अतः वह खण्डित नहीं है। क्रान्ति तभी होती है जब देशान्तर हो किन्तु जो स्वयं पूर्ण है उसके न तो देशान्तर का प्रश्न उठता है और न ही क्रान्ति का। अतः 'विक्रान्त' नाम निरर्थक हुआ। ब्रह्म निराकार है। जब उसकी कोई मूर्ति ही नहीं तो उस के अंगों का प्रश्न ही नहीं उठता है। ऐसी स्थिति में 'सुबाहु' नाम भी अर्थहीन हो जाता है। सभी जीवों में एक ही आत्मा विद्यमान है अतः, कोई किसी का शत्रु नहीं है। सब एक ही तत्त्व हैं। इस स्थिति में 'शत्रु-मर्दन' का नाम भी बेकार सिद्ध होता है। इस विद्वत्तापूर्ण तर्क को सुनकर ऋतध्वज बोले—चतुर्थ पुत्र का नामकरण तुम्हीं करो। इस पर रानी ने उसे 'अलर्क' नाम दिया। यद्यपि राजा को यह नाम अर्थहीन ज्ञात हुआ तथापि उसने इस सम्बन्ध में कोई तर्क नहीं दिया।

अन्य तीन पुत्रों के समान ही मदालसा अलर्क को भी योग और आध्यात्म की शिक्षा देने लगी। इस पर राजा ने तनिक रुष्ट होकर रानी से कहा—दुर्बुद्धे ! तुमने मेरे तीनों पुत्रों को निवृत्ति मार्ग का पथिक बना दिया है, जिससे वे योगी हो गए हैं। मेरी वंशबेल और पितरों के श्राद्ध तथा पिण्डदान के लिए तो चौथे पुत्र को ऐसी शिक्षा मत दो। पति की आज्ञा का पालन करते हुए रानी ने अलर्क को एक सफल व श्रेष्ठ नृपति बनने की शिक्षा दी। उसने राजकुमार अलर्क से कहा—पुत्र! सदा प्रजा-वत्सल बनने का प्रयत्न करो, निर्विकार भाव से राज्य और राजस्व का भोग करो। जिससे कि अपना और अपने पितरों का कल्याण कर सको। परहित को सदा मन में धारण करो, किन्तु परधन व परदार को मन में भूलकर भी न लाओ। भगवान् विष्णु के मुरारि रूप का सदा ध्यान करो और इस प्रकार मानव मन में विद्यमान कामादि षड्रिपुओं का दमन करो। सदा धर्म कार्य में रमो और परनिन्दा से बचो। बचपन में बन्धु-बान्धवों की, कुमारावस्था में माता-पिता की आज्ञा पालन द्वारा युवावस्था में सुकुला भार्या की तथा वृद्धावस्था में वानप्रस्थी बन कर बनचरों की प्रीति प्राप्त करो। राजपद में प्रतिष्ठित होकर सुहृदों, गौ, ब्राह्मणों आदि की दुष्ट शत्रुओं से रक्षा करते हुए अन्त में परम पुण्यों का फल भोगने के लिए परलोकगामी बनो।

इस प्रकार स्नेहपूर्बक प्रबोधित करते हुए मदालसा ने अपने पुत्र अलर्क को नाना प्रकार से ज्ञान-बोध कराया। उपयुक्त समय आने पर उसका यज्ञोपवीत संस्कार किया गया। यज्ञोपवीत हो जाने पर पुत्र ने अपनी विदुषी माता से कहा—हे मातः! मुझे ऐहिक सुखों और पारलौकिक कल्याण दोनों की प्राप्तिके निमित्त उपयुक्त कर्तव्य कर्मों का उपदेश कीजिए। पुत्र की सदिच्छा जानकर माता ने कहा—हे पुत्र! इस सम्बन्ध में इन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है—

(१) सत्याचरण द्वारा शत्रु का दमन करो और सत्याचारण से ही आत्मरक्षा में प्रवृत्त हो।

(२) सत्य का अपहरण करने वाले व्यसनों का त्याग करो।

(३) आमात्यों की सज्जनता तथा दुर्जनता की भली-भांति परख करो। इस हेतु शत्रु का सहयोग भी वर्जित नहीं।

(४) स्वयं को, आमात्यों को, भृत्यों को और अन्त में प्रजा को वश में करने के पश्चात् ही शत्रु का दमन करने में प्रवृत्त हो।

(५) काम, क्रोध, लोभ, मद आदि पर विजय पाने का प्रयत्न करो, अन्यथा इसके अभाव में काम-विवश राजा पाण्डु, क्रोध विवश अनुह्लाद, लोभवश ऐल और मदवश वेन के समान क्रमशः आत्मनाश, पुत्र-हानि, पतन और शाप-हत होने की स्थिति भोगनी पड़ती है। अतः इन दोषों-विकारों पर विजयलाभ करके राजा मरुत के समान विश्व-विजयी बनो।

(६) काकवत् चेष्टाशील, कोकिलवत् संचयशील, मयूरवत आत्म-सम्पत्ति विस्तारक और लोहवत् नाना कर्म-सम्पादक बनो।

(७) अग्नि व शाल्मली बीजवत् फैलने वाले बनो, यह राजधर्म का अंग है।

(८) सूर्य-चन्द्रवत् सब का निरीक्षण करो और उनकी कठिनाइयों को समझो, किसी प्रकार का भेदभाव मत रक्खो।

(९) व्यभिचारिणी के समान दूसरों—प्रजा—को सुख देने वाले, शूलिका के समान शत्रु का एक ही बार में विनाश करने और प्रसूता के स्तनवत् (सन्तान का दुग्धपान) प्रजा का पालन करने वाले बनो।

(१०) मेघवत् प्रजा से कर प्राप्त कर उसी की सेवा में लगने वाले नृपति बनो।

(११) चन्द्रवत् शुभ्र यशशाली और पवन के समान सर्वत्र गमन करने वाले सुशासक बनो।

हे पुत्र! यजन-याजन, अध्ययन-अध्यापन तथा विशुद्ध भाव से प्रति-

ग्रह ही ब्राह्मण के व्यवसाय हैं। दान, अध्ययन तथा प्रजापालन क्षत्रियों के धर्म हैं। वैश्य को यज्ञ, दान व अध्ययन के साथ कृषि, वाणिज्य व पशु-पालन में लगे रहना ही उपयुक्त है। शूद्रों को तीनों वर्णों की सेवा के साथ पशु-पालन और पशुओं के क्रय-विक्रय में लगे रहना ही शोभा देता है। यही उनका धर्म व व्यवसाय है। इसके विरुद्ध आचरण करने से नरक की प्राप्ति होती है।

पुत्र को वर्णाश्रम धर्म की महत्ता बतलाते हुए मदालसा ने पुनः कहा— हे पुत्र! ब्राह्मणपुत्र को उपनयन संस्कार से पूर्व स्वैच्छित आचार-विहार की स्वतन्त्रता है किन्तु उसके पश्चात् उसे प्रतिबन्धित जीवन यापन करना होता है। उसे गुरु के निकट रहकर अध्ययन, भिक्षाटन तथा गुरु आज्ञा-पालन आदि में मन लगाना होता है। इस अवधि में उसे ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करना चाहिए और गुरु सेवा में तत्परता बरतते हुए गुरु के सन्तोष को पाने की पूर्ण चेष्टा करनी होती है। गुरु के चरणों में वेदाध्ययन कर उन्हें गुरुदक्षिणा समर्पित करनी चाहिए। तदुपरान्त इच्छा होने पर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करे अन्यथा वानप्रस्थ को अथवा संन्यासाश्रम को अपनाए। वह ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुरु आश्रम में भी वास कर सकता है। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के लिए किसी से विवाह करे। इस स्थिति में आने पर ब्राह्मण, गौ, पशु-पक्षी आदि की यथाशक्ति सेवा सुश्रूषा करे और उन्हें भोजन कराए। ऋतुकाल में स्त्रीगमन और पंच यज्ञानुष्ठान करना एक सच्चे गृहस्थी का धर्म है। गृहस्थाश्रम के पश्चात् सन्तति की सुखवृद्धि, आत्मशुद्धि व मन-शान्ति के लिए वानप्रस्थ धर्म का पालन करना चाहिए। इस काल में भूमिशयन, वन्य फलमूलादि का भक्षण, पूर्ण ब्रह्मचर्य धर्म का पालन अनिवार्य रूप से करना चाहिए।

इस आश्रम के पश्चात् भिक्षु धर्म अथवा संन्यासाश्रम को अपनाना धर्मात्मा पुरुषों का परम धर्म है। इस काल में आश्रमी को अति कठिन जीवन यापन करना होता है। भिक्षा द्वारा प्राप्त अन्न का केवल एक बार भोग कर निरन्तर आध्यात्म चिन्तन में लगे रहना होता है। आत्म-ज्ञान व आत्मदर्शन, सर्व संग त्याग तथा रोषादि निवृत्ति आदि इस आश्रम के परम तत्त्व हैं।

इसके अतिरिक्त सत्यभाषण, अकृपणता, दयालुता, अहिंसा, शौच-कर्म, क्षमाभाव, सन्तोष और अनसूया ये अष्ठ-धर्म सभी वर्ग के लिए अवश्यमेव पालनीय हैं। सभी के निमित्त इसका पालन करना नितान्त आवश्यक है। जो व्यक्ति इस प्रकार अपने धर्म का पालन करता है, वह

चतुर्दश मन्वन्तरोंपर्यन्त ब्रह्मलोक में वास करता है। इसके विपरीत ग्राचरण करने वाला पाप का भागी होता है। ग्रतः ऐसे ग्रधर्माचारियों को प्रताड़ित व दण्डित कर के स्वधर्मनिरत करना ही न्याय तथा नृपतिधर्म है।

माता ने इतना वृत्तान्त कहने के पश्चात पुत्र ग्रलर्क को ऐसा ही ग्राचरण करने की सलाह दी। इस पर अलर्क ने जिज्ञासा की—हे सुविज्ञ जननि! अब मुझे यह बतलाइये कि गृहस्थाश्रम में रहकर कौन से कर्त्तव्य कर्म करणीय है और कौन-से वर्जनीय हैं, किन कार्यों को करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है ग्रौर किन कर्मों से नरक में जाना होता है। पुत्र की जिज्ञासा को शान्त करते हुए मदालसा ने कहा—हे पुत्र! गृहस्थी धेनु के समान है, ग्रतः पितर, देव, अतिथि, पशु, कीट, कृमि ग्रादि सभी उससे कुछ न कुछ प्राप्त करने की ग्रपेक्षा करते हैं। इस प्रकार यह धेनु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की स्थिति का ग्राधार है। ऋग्, यजु व साम वेद क्रमशः इसके पृष्ठ (पीठ) मध्य भाग ग्रौर मुख-ग्रीवा हैं। इष्टापूर्ति उसके शृंग, साधुसूक्त रोमावलि, शान्ति तथा पुष्टि कर्म इसके मलमूत्र हैं। वर्णाश्रम ही इस धेनु के प्रतिष्ठालय हैं। इस गौ का कभी नाश नहीं होता। इसके चार स्तन—स्वाहा, स्वधा, हन्त और कार—हैं। इनमें से स्वाहाकार स्तन का पान देवगण, स्वधा स्तन का पान पितृगण, हन्त स्तन का पान का मानवमात्र ग्रौर कार का पान भूतगण करते है। सभी वर्णों को वर्णाश्रम धर्म का नियमानुसार पालन करना चाहिए अन्यथा जीव तमिस्त्र व ग्रन्धतमिस्त्र नामक महानरकों को प्राप्ति करता है। गृहस्थाश्रम रूपी धेनु से सभी वत्सों की उचित रूप से सेवा करके, सुरों, पितरों, मुनियों, भूतगणों ग्रौर प्रजापतियों आदि को प्रसन्न करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके ग्रतिरिक्त गृहस्थ को स्नान कर नित्यप्रति देवों ग्रौर पितरों का जल से तर्पण करना चाहिए।

मदालसा ने पुनः कहा—हे महाभाग! अब मैं गृहस्थके कर्त्तव्य कर्मों के विषय में कहती हूं। तुम ध्यानपूर्वक सुनो। गृहस्थ कर्म तीन प्रकार के हैं—नित्य, नैमित्तिक ग्रौर नित्य-नैमित्तिक। पंचयज्ञाश्रित कर्म को नित्य कहा जाता है। पुत्र-जन्मादि की क्रिया को नैमित्तिक तथा श्राद्धपर्व आदि को नित्य-नैमित्तिक कर्म कहते है। श्राद्धकर्म विधिपूर्वक करना चाहिए। श्राद्धकर्म को पुत्र या सहोदर या स्त्री-सपिण्ड या दौहित्र ग्रादि ही करें। यदि पुरुष का ऐसा कोई सम्बन्धी न हो तो स्त्रियां ग्रपने पति के उद्देश्य से इसे कर सकती हैं। सभी बन्धु-बान्धवों तथा स्त्री ग्रादि के

अभाव में राजा भी इस कर्म को सुपात्रों से सम्पादित करा सकता है।

इस श्राद्ध कर्म को करते समय यजमान को पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके बैठना चाहिये। फिर जौ तथा दधिमिश्रित पिण्ड दान करना चाहिए। श्राद्ध में वैश्वदेव बलि आवश्यक नहीं है। इस प्रकार किया जाने वाला श्राद्ध वृद्धि-श्राद्ध कहा जाता है। एकोदिष्ट नामक औध्र्वदैहिक कर्म नैमित्तिक कर्म कहलाता है। इसमें देवकर्म नहीं किया जाता। इसमें आवाहन तथा अग्निकरण भी नहीं होता। केवल कुश से ही यह कर्म सम्पादित किया जाता है। संवत्सरपर्यन्त प्रतिमास यह क्रिया की जाती है। धूपादि द्वारा पूजन कर अग्नितर्पणपूर्वक बलि देनी चाहिए। ब्रह्म, विश्वदेव और धन्वन्तरि को गृहमध्य में, पूर्व तथा उत्तर दिशा में, इन्द्र को पूर्व दिशा में, यम को दक्षिण दिशा में, वरुण को पश्चिम दिशा में और सोम को उत्तर दिशा में बलि प्रदान करनी चाहिए। धाता और विधाता को द्वारदेश में, अर्यमा को गृह के बहिर्मार्ग में, समस्त निशाचर भूत गणादि को आकाश में तथा पितरों को दक्षिण दिशा में बलि देनी चाहिए। पूर्व दिशा में मुंह कर एकाग्र चित्त से आचमनपूर्वक यज्ञकर्म करना चाहिए। श्वान, श्वपच (चाण्डाल) तथा काग आदि पक्षियों के निमित्त पृथ्वी पर बलि दान करनी चाहिए। इसे ही वैश्वदेव बलि यज्ञ कहते हैं। प्रत्येक गृहस्थ को सन्ध्या और प्रातः इसे अवश्य करना चाहिए।

बलि प्रदान करने के साथ ही अतिथि सत्कार भी गृहस्थी का धर्म है। मूहूर्त के अष्टम अंश पर्यन्त अतिथि की प्रतीक्षा करनी चाहिए। अज्ञातनामा तथा अनजाने ही आया व्यक्ति अतिथि होता है। अपने ग्राम, नगर का वासी अथवा मित्र अतिथि नहीं कहा जाता। परिश्रान्त, क्षुधार्त्त, साधनहीन भोजन-आश्रय की इच्छा से आये हुए व्यक्ति को अतिथि कहा जाता है। उसका उपयुक्त विधि से पूजन व सत्कार करना चाहिए। अतिथि का नाम, गोत्र, वर्ण आदि कुछ भी जानने की आवश्यकता नहीं। ऐसे अतिथि को भोजन कराये बिना जो स्वयं आहार ग्रहण करता है, उसकी सुगति नहीं होती और उसे दूसरी योनि पाने पर मल-विष्ठा आदि का भोजन करना होता है। अतिथि को रुष्ट करके वापिस नहीं भेजना चाहिए, ऐसा होने पर अतिथि के पाप गृही को और गृही के पुण्य अतिथि को प्राप्त हो जाते हैं। ग्रास का अग्रभाग तोड़कर ब्राह्मण को समर्पित करना चाहिए। एक ग्रास को भिक्षाग्रास, चतुष्टय को अग्र और उसके उपरान्त अग्रचतुष्टय को हन्तकार कहा जाता है। अपनी क्षमता के अनुसार इनमें से किसी एक प्रकार की भिक्षा देने के बाद अन्य आगन्तुकों को भोजन

कराना चाहिए।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म का पालन करने से विधाता से लेकर सूक्ष्म कीट तक सभी उस गृहस्थ से परम प्रसन्न होते हैं। महाभाग महर्षि अत्रि ने भी इस सम्बन्ध में कहा है। गृही पुरुष को वैश्वदेव नामक बलि कर्म वर्ष भर प्रातः और सायंकाल अवश्य करना चाहिए। वर्ष बीतने पर सपिण्डी-करण करना चाहिए। यह देवकार्य आवाहन व अग्निकरण विहीन होता है। यह भी केवल कुश व अर्घ्य से किया जाता है। दक्षिण दिशा में पिण्ड अर्पण करके एक, तीन, पांच, आदि विषम-संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराना चाहिए।

हे पुत्र! मैंने तुम्हें तीनों प्रकार के गृहस्थ कर्मों का सविस्तार ज्ञान कराया है। अब मैं इस विषय में कुछ अन्य बातें बतलाती हूं, तुम दत्तचित्त होकर सुनो।

सपिण्डीकरण तथा पितृपिण्ड में पिता के प्रपितामह का अंश नहीं होता। उसकी गणना लेपालकों में होती है। पिता, पितामह और प्रपिता-मह पिण्ड से सम्बन्धित हैं। पितामह के ऊपर तीन जन लेपसम्बन्धी होते हैं। इनमें यजमान का स्थान सप्तम होता है। इससे ऊपर के जन अनुलेपन सम्बन्धी हैं। यजमान मृत स्वर्गवासी पितरों को श्राद्ध आदि कर्म-विधान से तृप्त करने में समर्थ होता है। उसके द्वारा भूमि पर बिखरे अन्न कणों से पिशाचयोनि प्राप्त जन तृप्त होते हैं। उसके स्नान-वस्त्र को निचोड़ने से निकले जल से वृक्षयोनि प्राप्त प्राणियों की तृप्ति होती है। उसके शरीर से चूने वाले जल (श्रमबिन्दु) से देवयोनि प्राप्त जन तृप्त होते हैं। पिण्ड उठाते समय गिरने वाले कणों से पशु-पक्षी योनि की तृप्ति होती है। बिखरे अन्नकणों से अकालमृत्यु अथवा आत्मदाह आदि द्वारा मृत्यु को प्राप्तजनों की तथा ब्राह्मण के आचमन और पादप्रक्षालन से पतित जल से अन्य दूषितयोनियों को प्राप्तजनों की तृप्ति होती है। इस प्रकार श्राद्ध अनुष्ठान में जो जल या अन्न प्रदान किया जाता है, उससे सभी पितरों की तृप्ति होती है तथा उस वंश के किसी भी योनि में पड़े मृत व्यक्ति को अप्रसन्न नहीं होना पड़ता है।

श्राद्ध प्रतिमास की अमावस्या को तथा पौष मास की कृष्णाष्टमी को करना चाहिए। उपयुक्त ब्राह्मण प्राप्त न होने अथवा सूर्य-चन्द्र के ग्रहण काल में अथवा विषावली आदि होने पर श्राद्धोचित वस्तुओं को एकाग्र कर श्राद्ध सम्पादित करना चाहिए। स्वाध्यायी, त्रिवेदज्ञ, दौहित्र, ऋत्विक्, जामातृ, माता-पिता आदि का भक्त ब्राह्मण ही श्राद्ध कर्म का

उपयुक्त पात्र है। एक-चक्षु, जारपुत्र, बन्धु-बान्धव विरोधी, देवत्यागी अग्नित्यागी तथा दूषित वृत्ति वाले ब्राह्मण इसके पात्र नहीं हो सकते हैं। श्राद्ध के पहले दिन किसी योग्य ब्राह्मण को निमन्त्रण देना चाहिए। श्राद्ध करने से पूर्व और पश्चात् संयम का जीवन व्यतीत करना चाहिए अन्यथा पितरों को कुगति प्राप्त होती है। कृष्णपक्ष और अपराह्न ही श्राद्ध के लिए उपयुक्त समय होता है। स्मरण रखना चाहिए कि पितृकार्यों (श्राद्ध, तर्पण आदि) में ब्राह्मणों की अयुग्म (विषम) संख्या और देवकार्यों में सम संख्या होनी चाहिए। ब्राह्मण से यथाविधि श्राद्ध करवाकर उसे भी तृप्त-सन्तुष्ट करना चाहिए। ब्राह्मण की आज्ञानुसार कर्म पूर्ण कर उसे दक्षिणा देनी चाहिए। ब्राह्मण के प्रसन्न होने पर उससे आशीर्वाद लेकर उसे विदा करना चाहिए और द्वार तक उसके साथ बाहर आना चाहिए। तदुपरान्त बन्धु-बान्धवों और भृत्यादि के साथ भोजन करना चाहिए। इसमें जहां कहीं मतभेद हो वहां ब्राह्मणों की सन्तुष्टि के अनुरूप ही कर्म करना चाहिए। श्राद्ध में रजत (चांदी) के पात्र के प्रयोग का सर्वाधिक महत्त्व है, क्योंकि पितरों को रजत अत्यधिक रुचिकर एवं प्रिय है।

वत्स ! श्राद्ध कर्म के साथ पितरों को प्रसन्न करने के लिए जो कुछ आचरणीय अथवा त्याज्य है, वही सब अब मैं तुम्हारे प्रति कहती हूं। हवि के अन्न से पितर एक मास तक तृप्त रहते हैं। पितरों को मत्स्य मांस से दो मास तक, पक्षी के मांस से पांच मास तक, हरिण के मांस से तीन मास तक, खरगोश के मांस से चार मास तक, शूकर के मांस से छः और विशिष्ट अजा-मांस से सात मास पर्यन्त तृप्ति होती है। ऐण मृग का मांस आठ मास तक, रुरु का मांस नौ मास तक और गवय का मांस दस मास तक उन्हें तृप्त रखता है। अन्य मान्य मांस से उन्हें ग्यारह माह तक तृप्ति रहती है, किन्तु गौ के दूध तथा खीर से उन्हें एक वर्ष तक तृप्ति रहती है। गौरी-सुत या गया श्राद्ध से उन्हें अनन्त काल तक तृप्ति लाभ होता है। उत्तम चावल, समा, गेहूं, तिल, मूंग, सरसों आदि पितरों को प्रिय हैं। श्राद्ध कर्म में इनका प्रयोग करना चाहिए। लोबिया, मक्का, मसूर, गाजर, प्याज, लहसुन, मूली, लाल गोंद, लवण आदि भी वर्जनीय हैं। इसी प्रकार अनुचित साधनों से अर्जित धन, मिथ्या एवं कटु वचनों का भी त्याग करना चाहिए। अपेय, दुर्गन्धयुक्त तथा अपर्याप्त जल का भी प्रयोग नहीं करना चाहिए। भैंस का, सुरा गाय का, ऊंटनी का तथा नई प्रसूता गाय—जिसे बछड़ा दिये दस दिन न हुए हों—का दूध या बासी दूध भी प्रयोग में नहीं लाना चाहिए। दुर्गन्धयुक्त, कीटादि से पूर्ण स्थान पर

किया गया श्राद्ध विफल होता है। नग्न, पातकी, कुलहन्ता, ब्रह्महत्यारा जैसे मनुष्यों के और कुक्कुट, श्वान, ग्राम सूकर आदि पशुओं के दर्शन से भी श्राद्ध भ्रष्ट हो जाता है। अतः गोपन-वृत्ति से ही इसका सम्पादन हितकर व कल्याणकारी है।

श्रद्धापूर्वक योगियों अथवा ब्राह्मणों को भोजन कराना उत्तम है। हजार ब्राह्मणों को भोजन कराने की अपेक्षा एक सच्चे योगी को भोजन कराने से यजमान और भोक्ता के साथ-साथ सभी पितरों का भी शीघ्र उद्धार होता है। इस प्रकार श्राद्ध करने वाले पुत्र का बड़ा माहात्म्य है। पितर भी सदा यही कामना करते हैं कि हमारे पुत्रों में ऐसा श्रेष्ठ पुत्र कब जन्म लेगा, जो योगियों के बचे हुए अन्न द्वारा पृथ्वीतल पर हमें पिण्ड दान करेगा। गैंडे के मांस, शाक, तिल, खिचड़ी आदि द्वारा पिण्ड दान करेगा। (गैंडे के मांस से श्राद्ध करने से जब तक सूर्य की स्थिति है तब तक पितरों को भोजन मिलता रहता है।) त्रयोदशी युक्त मघा नक्षत्र में विधि-विधान से श्राद्ध करने तथा दक्षिणायन में घृत मधु युक्त क्षीर देने तथा एकाग्र भाव से पूजा करने से सभी कामनाओं की पूर्ति होती है। पाप दूर हो जाते हैं तथा रुद्र, वसु, ग्रह, रवि और नक्षत्र आदि प्रसन्न होते हैं। इस प्रकार पितरों की तृप्ति होने पर आयु, बुद्धि, विद्या, धन, स्वर्ग-सुख, मोक्ष आदि की प्राप्ति तथा वृद्धि होती है।

यह सब बतलाने के उपरान्त मदालसा बोली—हे पुत्र! अब मैं काम्य श्राद्ध के विषय में कुछ बतलाना चाहती हूं, तुम दत्तावधान होकर श्रवण करो।

निम्नोक्त तिथियों को श्राद्ध कर्म करने से निम्नोक्त फल की प्राप्ति होती है—

तिथि	**फल**
प्रतिपदा	धनलाभ
द्वितीया	सम्पत्तिलाभ
तृतीया	इष्टलाभ
चतुर्थी	शत्रुनाश
पंचमी	सुरूपा स्त्री की प्राप्ति
षष्ठी	लोक-सम्मान की प्राप्ति
सप्तमी	लोक-नायकत्व की प्राप्ति
अष्टमी	उत्तम बुद्धिलाभ
नवमी	रमणी से रमण सुख का लाभ

दशमी	सभी कामनाओं की पूर्ति
एकादशी	दीर्घ आयुष्य की प्राप्ति
त्रयोदशी	स्वास्थ्य तथा यौवन की स्थिरता
चतुर्दशी	विजयलाभ

मदालसा बोली—वत्स ! इसी प्रकार निम्नोक्त नक्षत्रों में पितृ-श्राद्ध करने से निम्नोक्त रूप से लाभ होता है—

नक्षत्र	लाभ
(१) कृत्तिका	स्वर्ग भोग
(२) रोहिणी	पुत्रलाभ
(३) मृगशिरा	ओजस्विता की प्राप्ति
(४) आर्द्रा	वीरता
(५) पुनर्वसु	क्षेत्र-वृद्धि
(६) पुष्य	पुष्टिलाभ
(७) अश्लेषा	उत्तम सन्तति
(७) मघा	लोक-मान्यता
(८) हस्त	यश: कीर्ति
(१०) चित्रा	रूप-सौन्दर्य
(११) स्वाति	व्यवसाय में लाभ
(१२) विशाखा	कामनाओं की सिद्धि
(१३) अनुराधा	चक्रवर्ती का पद
(१४) ज्येष्ठा	स्वामित्व एवं प्रधानता
(१५) मूल	आरोग्य
(१६) पूर्वाषाढ़	लोक-प्रसिद्धि एवं यशस्विता
(१७) उत्तराषाढ़	शोक-निवृत्ति
(१८) शुक्ला	सद्गति एवं उत्तमलोक की प्राप्ति
(१९) धनिष्ठा	वैभव-प्राप्ति
(२०) अभिजित	वैदुष्य-प्राप्ति
(२१) शतभिषा	वाक्-सिद्धि
(२२) पूर्वभद्रा	पशुधन-वृद्धि
(२३) उत्तरभद्रा	परिवार-सुख
(२४) अश्विनी	सुख-सम्पन्नता
(२५) भरिणी	बल, ओज

सुख-समृद्धि के इच्छक प्राणी को इन सभी तिथियों और नक्षत्रों के

दिन श्रद्धापूर्वक पितृ श्राद्ध करके पितरों को तृप्त-सन्तुष्ट करना चाहिए और उनकी प्रसन्नता के फलस्वरूप इहलौकिक सुख-वैभव सुलभ करने चाहिएं।

सद्वृत्ति वाले सदाचार परायण गृहस्थियों का कर्त्तव्य है कि वे हव्य तथा अन्नदान द्वारा पितृ, देव, अतिथि तथा बन्धुगण की पूजा करें। इनके अतिरिक्त वे भूतगण, भृत्यगण, पशु-पक्षी, कीट, भिक्षुक, याचक आदि की भी यथाविधि पूजा करें। गृहस्थी मनुष्य यदि नित्य, नैमित्तिक क्रिया का उल्लंघन करते हैं तो वे पाप के भागीदार होते हैं।

माता से इतना वृत्तान्त सुन लेने के उपरान्त अलर्क ने सदाचार के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। उसकी जिज्ञासा को शान्त करते हुए मदालसा बोली—वत्स! सब प्रकार के सदाचार का पालन करना सद् गृहस्थ का परम कर्त्तव्य है। इसके अभाव में उसे इस लोक में अथवा परलोक में न तो यश मिलता है और न ही सुख। सदाचार का पालन न करने वाला यज्ञ, दान आदि से भी लाभान्वित नहीं होता। गृहस्थी को धनार्जन आदि में धर्म का पालन करना चाहिए। अर्जित धन का चतुर्थांश पारलौकिक धर्म के निमित्त, अर्द्धांश आत्मपोषण हेतु तथा शेष को वृद्धि हेतु व्यापार आदि में प्रयुक्त करे। अर्थ के समान ही धर्म में भी तदनुरूप आचरण करके अघादि को दूर करे। धर्म के दो रूप हैं, सकाम और निष्काम। इनमें से प्रथम लौकिक और द्वितीय पारलौकिक फलप्रद हैं। धर्म, अर्थ और काम के त्रिवर्ग की परस्पर संश्लिष्ट और विश्लिष्ट दोनों ही स्थितियों को अपनाया जा सकता है। गृहस्थ को ब्रह्ममुहूर्त में ही शैय्या त्याग कर, स्नानादि से निवृत्त होकर पवित्र भाव से आचमनपूर्वक पूर्वाभिमुख होकर पूर्व सन्ध्या करनी चाहिए। सन्ध्या-वन्दन के उपरान्त वेदतत्त्व तथा धर्मशास्त्र का चिन्तन करना चाहिए। सूर्यदेव के रहते ही सायंकालीन सन्ध्या अवश्य कर लेनी चाहिए। सामान्य स्थिति में होने पर बिना बाधा के सन्ध्योपासना अवश्य ही करनी चाहिए। मिथ्याभाषण कर्कश वचन, असत् शास्त्र तथा असत् सेवा आदि का सर्वथा त्याग करना चाहिए। उदयकालीन, अस्ताचलगामी तथा रवि बिम्ब के दर्शन नहीं करने चाहिएं। दन्त-मंजन, केश-सज्जा तथा सुन्दर वस्त्र धारण आदि सभी क्रिया-कलाप सूर्यास्त से पूर्व ही करना उचित है। ग्राम, पथ, पशुशाला, खेत, तीर्थ आदि के निकट या उनमें मल-मूत्रादि का त्याग अनुचित है। पराई स्त्री को नग्न देखना तथा ऋतुमति स्त्री से बातचीत अनुचित है। मलमूत्र, भस्म, केश, अंगार, अस्थि, रज्जु आदि पर नहीं

बैठना चाहिए। पितर, देवता, आचार्य-ब्राह्मण तथा भूतगण आदि का पूजन करके ही भोजन करना चाहिए। भोजन पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होकर ही करना चाहिए। अति उष्ण तथा अधिक लवणयुक्त भोजन वर्ज्य है। किसी भी उत्तेजना तथा आवेश के वश में होकर भी किसी व्यक्ति के दोषों का प्रकाशन अनुचित है। उच्छिष्ट स्थिति में किसी से वार्तालाप, वेद-पाठ, ब्राह्मण, गौ, अग्नि तथा अपने माथे का स्पर्श आदि वर्जित है। इस स्थिति में सूर्य, चन्द्र तथा नक्षत्र आदि का दर्शन भी नहीं करना चाहिए। गुरु का सदैव सत्कार करना चाहिए। उनकी न तो कभी निन्दा करनी चाहिए और न ही सुननी चाहिए। ब्राह्मण आदि को भी निन्दा में भाग न लेना, नग्न स्नान तथा शयन करना भी वर्जित है। दोनों हाथों से सिर खुजलाना अशुभ होता है। पथ-भ्रष्ट, अज्ञानी तथा बालक आदि का मार्ग-दर्शन करना चाहिए। पवित्र, विद्वान् व गरिमा-मण्डित जन की प्रदक्षिणा करनी चाहिए। किसी की उतरन कभी भी धारण नहीं करनी चाहिए। अष्टमी, चतुर्दशी व पंचदशी को तेल-मर्दन व स्त्री-प्रसंग वर्जित है। किसी के मर्म को चोट नहीं पहुंचानी चाहिए। चुगली, दंभ, अभिमान, तीक्ष्ण व्यवहार आदि का आचरण नहीं करना चाहिए। किसी की विकलांगता का उपहास नहीं करना चाहिए। पुत्र व शिष्य को सन्मार्ग में लगाने का प्रयत्न करना चाहिए और आवश्यकता होने पर उन्हें दण्ड देना भी उचित है। उत्तर या पश्चिम दिशा में सिर करके सोना वर्जित है। लाल अथवा काले वर्ण के वस्त्र नहीं पहनने चाहिएं। विशेष परिस्थिति (चन्द्रादि ग्रहण) के अतिरिक्त रात्रि में स्नान करना ठीक नहीं है। गीले केशों को वस्त्र से फटकारना भी वर्जित है। सूर्यास्त, सूर्योदय और स्नान के उपरान्त शयन वर्जित है। किसी भी आसन पर पैर फैलाकर बैठना सदाचार के विरुद्ध है। हिचकी, थूक तथा मूत्रादि के त्याग के पश्चात् आचमन करना चाहिए। बासी, दुर्गन्धयुक्त तथा अपच भोजन का त्याग करना चाहिए। आमन्त्रित व्यक्ति को भोजन कराये बिना स्वयं भोजन नहीं करना चाहिए। पूर्वाह्न में देवताओं का, मध्याह्न में मानवों का, तथा अपराह्न में पितरों का भक्तिपूर्वक पूजन करना चाहिए। पूर्व या उत्तर की ओर मुख कर केशादि कर्तन नहीं कराना चाहिएं। वाचाल, रोगिणी तथा दोषयुक्त कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। सुन्दर, सद्-कुलोत्पन्न, सर्व-सुलक्षण सम्पन्न कन्या से विवाह करना ही उचित है। पिता की सात व माता की पांच पीढ़ियों को छोड़कर किसी अन्य कन्या से विवाह उचित है। अपनी स्त्री की सभी प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।

ऐसे कार्य नहीं करने चाहिएं जिनसे किसी को सन्ताप या पीड़ा पहुंचे। अशुभ या अमंगलकारी वचन नहीं कहने चाहिएं। अमंगल वेश धारण करना भी उचित नहीं है। ऋतुमती नारी के साथ सम्भोग नहीं करना चाहिए। पुत्र-कामना से युग्म रात्रि को तथा पुत्री-कामना से अयुग्म रात्रि को स्त्री सहवास करने से वांछित फल प्राप्त होता है। नीच, व्यभिचारी, शंकालु, लालची, नीचाशयी या ऐसे ही निकृष्ट जन का संग न करके सज्जन विनीत, विनम्र, सदाचारी व्यक्ति से ही मित्रता करनी चाहिए। मित्र, राजा, दीक्षितजन, ऋत्विक्, श्वसुर व स्नातक अर्घ्य के अधिकारी होते हैं। सद्गृहस्थी के लिए यह सर्वथा उचित है कि वह सम्यक् रूप से प्रतिदिन पूजन करें। यज्ञ करते समय वह प्रथम यज्ञाहुति ब्रह्मा को, दूसरी प्रजापति को, तीसरी गुह्यक् गण को तथा चौथी आहुति कश्यप को प्रदान करें। उपरान्त अनुमति आहुति देकर यज्ञ-कार्य सम्पादन करें। इसके बाद वैश्वदेव बलि प्रदान कर तीर्थयोग से आचमन करें। दाहिने हाथ की कनिष्ठिका अंगुली की उत्तर दिशा में जो रेखा विद्यमान है, वह ब्राह्म-तीर्थ, तर्जनी और अंगूठे का मध्य स्थल पितृ-तीर्थ, अंगुली के अग्रभाग में देव तीर्थ व कनिष्ठिका के मूल में कार्य तीर्थ विद्यमान है। इन तीर्थों से क्रमशः आचमन, पितृकार्य, देवकार्य व प्रजापति कार्य सम्पादित करने चाहिएं।

अंजलि से जलपान करना, शौचादि में देर लगाना तथा बछड़े को स्तन पान कराती गौ को बुलाना वर्जित है। जिस स्थान में ऋणदाता, चिकित्सक, श्रोत्रिय तथा जलपूर्ण नदी—ये चार न हों, वहां वास नहीं करना चाहिए। कुराजा, कुराज्य व कुग्राम में वास नहीं करना चाहिए। बुद्धिमानों ने सद्धर्मपूर्ण क्षेत्र में वास करना ही उपयुक्त माना है।

अपनी चर्चा को आगे बढ़ाती हुई मदालसा बोली—वत्स! सद्गृहस्थ के लिए कई बातें वर्जित होती हैं जबकि अन्य अनेक बातें धर्मरूप हैं। हे पुत्र! अब तुम्हारे प्रति उनका वर्णन करती हूं, तुम दत्तावधान होकर श्रवण करो।

सद्गृहस्थ के लिए बासी, सड़ा-गला तथा कुक्कुट के मांस का सेवन वर्जित है, हां, औषध के रूप में वैद्य द्वारा निर्दिष्ट विधि से मांस-सेवन वर्जित नहीं है। शाक, मूल, फल, अन्न, हीरा, मूंगा, मणि, मोती, मानव शरीर तथा धातुओं के सामान्य पात्र केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं। ताम्र, कांस, रांगा, सीसा आदि धातुओं के पात्र खट्टी वस्तु के मलने से शुद्ध होते हैं। रोम, सामान्य वस्त्र, मूसल-ओखली, मिट्टी के बर्तन तथा केश आदि

भी सामान्यतः जल से स्वच्छ हो जाते हैं। हाथी-दांत, अस्थि, सींग आदि की बनी हुई वस्तुओं को भी पानी से साफ किया जा सकता है। मिट्टी के बर्तन को दुबारा पका कर भी शुद्ध किया जाता है। गृह-शुद्धि, लीपने, जल छिड़कने तथा खुरचने आदि से होती है। अन्न का कभी भी अपमान नहीं करना चाहिए। उसका अपमान करने से लक्ष्मी रूठ जाती है। धूप, अग्नि, गौ, अश्व, सूर्य तथा छाया आदि कभी अशुद्ध नहीं होते। बकरी का मुख शुद्ध किन्तु गौ का मुख अशुद्ध होता है। अनजाने में दुष्टान्न का सेवन करने वाला तीन दिन तक उपवास करने से शुद्ध होता है। निन्दित तथा हीन विचारों वाली स्त्री से बात तक करना अनुचित है। सूतिका, वस्त्रहीन पुरुष तथा शव आदि को देख लेने पर सूर्य-दर्शन करना चाहिए। इसी प्रकार देव-पूजन आदि अवश्य करणीय कर्म है। देवताओं का निवास पवित्र वृक्षों पर भी होता है। अतः अक्षत-पुष्पादि से प्रति प्रातः-सायं उनका पूजन करना चाहिए। यह कार्य स्त्रियों को विशेष रूप से करना चाहिए। इसके अतिरिक्त देहली का पूजन करना और उसे कभी शून्य न रखना भी नारी का परम धर्म है। जिसकी देहली शून्य व पूजा से विहीन रह जाती है तथा जो उसका बिना पूजन किए उसे लांघ जाते हैं उनका कुल तो शून्य होता ही है, साथ ही उन्हें नरक-वास भी मिलता है। देहली को प्रति प्रातः गोबर से लीपने पर दुःख-दारिद्र दूर रहते हैं। घर को सायं-प्रातः न बुहारने पर अथवा रात्रि में विलम्ब से अन्न संस्कार करने पर नारी बांझ होने के अतिरिक्त जन्म-जन्मान्तर तक धन और पतिविहीन होती है। सिल-बट्टे, चूल्हे तथा ओखल आदि को चरण से स्पर्श करने से पातक होता है तथा स्त्री और धन आदि का क्षय होता है। इसी प्रकार पुत्रवान् को काले कम्बल और मृगचर्म आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जिस व्यक्ति का पिता जीवित हो, उसे गया-श्राद्ध, तिल-तर्पण, आधी धोती को सिर पर ओढ़ना आदि क्रियाएं नहीं चाहिएं। दीर्घ काल तक जीवित रहने वाले गृहस्थ को कुरंट या बड़ की छाया में दीपक नहीं जलाना चाहिए।

ब्राह्मण द्वारा बिना संस्कार सम्पन्न किए किसी ब्राह्मणी को अपने घर में स्त्री रूप में रख लेने से दोनों पापग्रस्त हो जाते हैं और उसका अन्न त्याज्य होता है। देव तथा पितर का पूजन न करने वाले, षण्ड (पाखण्डी), दम्भी तथा आडम्बर रचने वाले मार्जार, दान-यज्ञ आदि न करने वाले मूषक, पक्षपात करने वाले कुक्कुट तथा ब्राह्मण स्त्री आदि का वध करने वाले चाण्डाल कहलाते हैं। इनके घर का भोजन करने पर उपवास, चन्द्रायण अथवा ऐसे ही अन्य प्रायश्चित्तों से शुद्धि हो जाती है।

मरण और जन्म काल में नित्य कर्म रोके जा सकते हैं। ऐसे काल में ब्राह्मणों को दस दिन, क्षत्रियों को बारह दिन, वैश्यों को पन्द्रह दिन तथा शूद्रों को एक मास पर्यन्त होमादि नित्य कर्म नहीं करने चाहिएं। आपात् काल में नित्य कर्म के न किए जाने पर पादकृच्छ्र व्रत तथा गोदान द्वारा शुद्धि करनी चाहिए। इसी प्रकार किसी सम्बन्धी, पुत्र, सगोत्री आदि की मत्यु अथवा गर्भपात होने की स्थिति में भी शुद्धिकरण हेतु विशेष विधियां हैं। ब्राह्मण के घर में गर्भपात होने पर चौबीस घण्टे में, क्षत्रिय तीन दिन में, वैश्य छः दिन में और शूद्र बारह दिन में शुद्ध होता है। किसी एक की मृत्यु के मध्य यदि किसी अन्य सपिण्ड की मृत्यु हो जाए तो प्रथम मृत्यु वाले की तिथि की गणना कर प्रति व्यक्ति अशौच शुद्धि क्रिया की जाती है। इसी प्रकार जन्म के सम्बन्ध में भी यही नियम मान्य है। पुत्रोत्पन्न होने पर पिता और किसी की मृत्यु होने पर सब बन्धु सवस्त्र स्नान करें। उचित तथा शास्त्रानुमोदित नियमों का पालन कर शुद्ध हों, प्रतिदिन वेदपाठ करने पर और अगोपन कार्यों को निःशंक भाव से न करने पर धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति होने के साथ-ही-साथ इस लोक व परलोक में भी कल्याण होता है।

जननी मदालसा के इन उपदेशों पर आचरण करते हुए राजकुमार अलर्क यौवन के द्वार पर जा पहुंचा। तब उसने विवाह किया और माता-पिता की आज्ञा का पालन करते हुए गृहस्थ-धर्म का पालन करने लगा। ऋतध्वज महाराज ने भी दीर्घ काल तक सफलतापूर्वक राज्य-संचालन करने के उपरान्त रानी मदालसा सहित वानप्रस्थी बनने का निश्चय किया। उस समय रानी मदालसा ने अपनी स्वर्ण मुद्रिका राजकुमार को देते हुए कहा—यदि तुम कभी दुःख का अनुभव करो तो इस अंगूठी में अंकित शासन (निर्देश) को पढ़ लेना। पुत्र को समुचित उपदेश देकर रानी वन-प्रस्थान के लिए तत्पर हो गयी। पिता ने भी राजकुमार को राज्यासन सौंप दिया और वे रानी सहित वन को चले गये।

ऋतध्वज-नन्दन अलर्क ने राज्य प्राप्त करने पर बड़ी ही निष्ठा, न्याय और धर्मपूर्वक शासन किया। उसके राज्य में कोई दुखी नहीं था। धर्म-पूर्वक शासन करते हुए अलर्क को अनेक वर्ष बीत गये। उसे सर्वगुण सम्पन्न पुत्रों की प्राप्ति हुई किन्तु उसे वानप्रस्थी बनने की इच्छा नहीं हुई। इस प्रकार उसे दीर्घकाल तक कामरत देखकर उसके तपोरत अग्रज सुबाहु को दुःख हुआ। भाई के कल्याण की कामना से वे चिन्तित हो उठे। अन्ततः उन्होंने अलर्क के प्रतिद्वन्दी काशी-नरेश से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श

करके अलर्क के पास इस आशय से एक दूत को भेजा कि वह राज्य सुबाहु को सौंप दे, किन्तु अलर्क ने उत्तर दिया जब तक अग्रज स्वयं आकर विनय-पूर्वक राज्य न मांगे मैं सुई की नोंक भर भी भूमि नहीं दे सकता। यह उत्तर सुनकर और सुबाहु के कहने पर काशीराज ने अलर्क पर आक्रमण कर दिया तथा साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति से उसे पराभूत कर दिया। इस विपत्ति की स्थिति में राजा को स्मृति हो आई। उसने स्नान आदि से पवित्र होने के पश्चात् अंगूठी के शासनादेशों को पढ़ा। उसमें लिखा था सर्वान्तःकरण से काम का परित्याग करो। इसे पढ़ते ही राजा के ज्ञान-चक्षु खुल गये। उन्होंने इस सम्बन्ध में और अधिक जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से दत्तात्रेय जी के पास जाने का निश्चय किया। अलर्क ने ऋषि के निकट जाकर प्रणामपूर्वक उनकी अभ्यर्थना की। तदुपरान्त दत्तात्रेय जी द्वारा आगमन का प्रयोजन पूछे जाने पर अलर्क ने कहा—भगवन्! मैं त्रिविध दुःखों और आत्मा के विषय में जानने की इच्छा रखता हूं। मैं पंचभूत निर्मित पिण्ड होने पर भी न मिट्टी हूं, न जल हूं, न थल हूं न अग्नि तथा न आकाश ही हूं। फिर भी शरीर के आश्रय से मुझे सुख-दुःखादि का अनुभव होता है। यह सुख-दुःखादि और काम-क्रोध तथा लोभादि शरीर के ही धर्म हैं। मैं शरीर से भिन्न हूं, अतः सुखादि का मुझ पर कोई प्रभाव नहीं होना चाहिए। जो मैं हूं, वही शरीर से मेरे अग्रज सुबाहु हैं, वही काशीराज है, फिर यह भेद कैसा और उनकी राज्य पाने की इच्छा कैसी? हममें एक ही आत्मा आकार की भिन्नता से भिन्न रूप में भासता है, भिन्न शरीर के कारण ही भेद की सृष्टि होती है जो मिथ्या है।

अलर्क बोला—भगवन्! अब मुझमें सम्यक् दृष्टि का उदय हो गया है, अतः मुझे दुःख भी कुछ नहीं है। दुःखी वही होता है जिसमें सम्यक् दृष्टि का अभाव होता है। आसक्ति से ही दुःख का उदय और विकास होता है। पालतू कुक्कुट के प्रति आसक्ति होने से ही मार्जारी द्वारा उस को मारे जाने से दुःख होता है जबकि मूषक के उसी मार्जारी द्वारा खाये जाने से दुःख नहीं होता, क्योंकि उसके प्रति आसक्ति नहीं है। इस पर दत्तात्रेय जी बोले—हे नरशार्दूल! तुम्हारा कथन सत्य है। ममता ही इस विश्व में सुख-दुःख का मूल है। ज्ञान का उदय होने से वह अनायास ही उड़ जाती है। अहंकार के अंकुर से अज्ञान रूपी वृक्ष पैदा होता है। ममत्व उस वृक्ष का तना, घर उसकी ऊंची-ऊंची शाखा, स्त्री-पुत्र आदि पत्ते हैं। धन-धान्य आदि उसके बड़े-बड़े पल्लव, पाप-पुण्य उसके पुष्प तथा सुख-

दु:ख उसके फल हैं। यह वृक्ष दिन-प्रतिदिन वृद्धि पाता है और विद्या-बुद्धि आदि को बाधित कर मुक्ति-मार्ग को अवरुद्ध कर देता है। सद्विद्या-रूपी कुठार को सत्संगरूपी पाषाण पर घर्षित (रगड़) कर उससे जो इस वृक्ष का छेदन करते हैं, वही ब्रह्मरूपी परमशान्तिदायी वन में प्रविष्ट होते हैं तथा परम बुद्धि का लाभ पाते हैं। इस बुद्धिलाभ से उसे क्षेत्र का ज्ञान हो जाता है और वह क्षेत्रज्ञ कहलाता है।

यह सब श्रवण कर अलर्क ने पुनः कहा—हे ज्ञानश्रेष्ठ! आपकी कृपा से मुझे बहुत ज्ञानलाभ हुआ है, किन्तु अभी मैं मोहाच्छन्न हूं, अतः मुझे उस योग के विषय में बतलाइये जिसे प्राप्त कर मैं पुनर्जन्म एवं आवागमन के चक्र से छूटकर ब्रह्म में एकाकार हो सकूं। इस प्रकार के विनय तथा विनम्रता भरे उन शब्दों को सुनकर भगवान् दत्तात्रेय ने राजा को पुनः समझाते हुए कहा—राजन्! योगाश्रित जन को ज्ञानलाभ से उस के अज्ञान की जो हानि होती है अर्थात् अज्ञान से जो वियोग होता है, उसी का नाम मुक्ति है। इसी से ब्रह्म में एक रूप हो जाने की शक्ति भी विद्यमान है। कभी-कभी ममता से उत्पन्न दु:ख से सम्यक् ज्ञान की प्रवृत्ति, सम्यक् ज्ञान की उपलब्धि से योग और योग से मोक्ष सुलभ होता होता है, परन्तु साधारणतया ममता और अज्ञान से ग्रस्त जीव मोक्षलाभ नहीं कर सकता, अतः उसे आत्मजयी ही बनना चाहिए। ममता और अज्ञान से विश्व के प्रति अमरता की भावना का उदय होता है और क्षण-भंगुरता आदि दोषों के प्रति उदासीनता आती है। इस अज्ञान पर प्राणायाम द्वारा, पापों पर धारणा द्वारा, विषयों पर प्रत्याहार द्वारा तथा सभी अनीश्वर गुणों पर ध्यान द्वारा विजय पाकर दोषों को भस्म किया जा सकता है। विकारों, दोषों तथा विषयों आदि को नष्ट करने के लिए योगी को सर्वप्रथम प्राणायाम करना चाहिए। प्राण व अपान वायु का निरोध ही प्राणायाम कहा जाता है। यह तीन प्रकार का होता है :— लघु, मध्यम और उत्तरीय। इनमें से प्रथम (लघु प्राणायाम) द्वादश मात्रा युक्त, द्वितीय (मध्यम प्राणायाम) चौबीस मात्रा युक्त तथा तृतीय (उत्तरीय प्राणायाम) छत्तीस मात्रा युक्त होता है। इन प्राणायामों, द्वारा साधक स्वयं को वश में करता है। इनमें से प्रथम से विषयों को, द्वितीय से वेपथु (कम्प आदि) विकारों को तथा तृतीय से दोषों को जीता जाता है। परिणाम की दृष्टि से प्राणायाम चार प्रकार का होता है :—

(१) **ध्वस्ति**—इससे चित्त की मलिनता दूर होती है तथा दुष्ट-अदुष्ट सभी प्रकार के कर्मों के फल का क्षय होता है।

(२) **प्राप्ति** –इससे लोभ-मोह आदि को योगीजन स्वयं निरुद्ध करते हैं।

(३) **सेवित** -इससे योगीजन सूर्य-चन्द्र नक्षत्रादि के समान शक्ति प्राप्त करके भूत, भविष्य तथा वर्तमान के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेते हैं।

(४) **प्रसाद**—इससे योगी पंचवायु पर और इन्द्रियों के विषयों पर नियन्त्रण रखकर शुद्धिलाभ करते हैं।

दत्तात्रेय जी बोले—वत्स ! पद्मासन, अर्द्धासन, स्वस्तिकासन आदि का अवलम्बन करके ध्यानपूर्वक प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार नियतात्मा होकर योगसाधन करने से योगी के समस्त दोष नष्ट हो जाते हैं और उसे ब्रह्म के दर्शन हो जाते हैं। प्राणायाम के समान धारणा से भी मन को धारण अथवा नियन्त्रित किया जाता है। इन्द्रियों को उनके अपने-अपने गुणों से प्रत्याहारित करना प्रत्याहार कहलाता है। योगसाधना उन्हीं स्थलों पर करनी चाहिए जहां शुद्ध सात्विक वायु की प्राप्ति हो। जलपूर्ण स्थान, प्रज्वलित स्थल, गौशाला तथा कोलाहल-पूर्ण स्थल के निकट साधना नहीं करनी चाहिए। जो साधक इन बातों पर ध्यान नहीं देता वह बधिरता, मूकता, अन्धता, जड़ता या स्मृतिनाश आदि विकारों से ग्रस्त हो जाता है। यदि इस प्रकार किसी रोगादि का विकास हो जाए तो उसका उपचार भी है। उदाहरणार्थ :— उदर पीड़ा होने पर यवागु (चावल या जौ का मांड) का भक्षण करना चाहिए, मन चंचल होने पर प्रलयकाल में भी स्थिर रहने वाले पर्वत की धारणा करनी चाहिए। स्मृतिलुप्त होने पर सिर पर सूक्ष्म कील स्थापन कर मुष्टि द्वारा धीरे-धीरे उस पर प्रहार करने से स्मृति लौट आती है। वत्स ! यह मनुष्य-शरीर चतुर्वर्ग फल का मूल है, अतः उसका लाभ करने के लिए योगी को निर्विकार भाव से साधना करनी होती है। देह से सुगन्ध आना, मुख पर कांति आना, मलमूत्रादि की अल्पता हो जाना तथा वाणी का माधुर्य आदि योग में प्रवृत्त होने के प्रारम्भिक लाभ हैं। ऐसे योगनिष्ठ को अति शीत अथवा अति उष्णता का कष्ट नहीं व्यापता और वह भय से भी त्रस्त नहीं होता। ऐसा योगी ही सिद्धिलाभ से युक्त माना जाता है।

राजेन्द्र ! आत्मा का वर्णन होने पर योगी को अनेक उपसर्ग होते हैं। अब मैं संक्षेप में उनका वर्णन करता हूं। आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें। आत्मा के दर्शन होने पर योगी को सर्वप्रथम नाना प्रकार के भोगों को भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है। साधक को चाहिए कि वह स्वयं

को इससे निवर्तित करे। इन परविजय लाभ होने के पश्चात योगी के मार्ग में सात्विक, राजसिक और तामसिक भेद से अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। इन्हें प्रतिभा, श्रावण, देव, भ्रम तथा ग्रावर्त्त कहते हैं। ये उपसर्ग विभिन्न चमत्कारिक शक्तियों के रूप में प्रकट होते हैं। सभी वेदों, शास्त्रों विद्याओं तथा काव्यों ग्रादि का चित्त में प्रतिभान होना **प्रतिभ** कहलाता है। सब प्रकार के शब्दार्थ का ज्ञान व सहस्त्रों योजन दूर के शब्द का श्रवण गोचर होना **श्रावण** कहलाता है। जो योगी को सभी दिशाग्रों के उसी प्रकार दर्शन करा दे जैसे देवता कर सकते हैं उसे **देव** कहते हैं। सभी प्रकार के संचार तथा दोष भ्रंशक कारणों से निरालम्ब होकर योगी का मन भ्रमणशील होता है उसे **भ्रम** कहते हैं तथा जलावर्त के समान योगी के मन को बाधित करने वाले उपसर्ग को **ग्रावर्त्त** कहते हैं। इनमें पड़कर योगी योगभ्रष्ट होता तथा पुनः पुनः संसार-चक्र में लौट आता है। ग्रतः सच्चा योगी मन में केवल ब्रह्म का ही भाव धारण करता है। मन द्वारा समस्त भूतों के मन में प्रविष्ट होकर ही मानसी धारणा प्राप्त होती है और उसी से सूक्ष्म मन की उपलब्धि होती है। आत्मवान साधक सातों प्रकार की धारणा को बारम्बार देख करके और उनका वर्जन करके परम गति को प्राप्त करता है। योगी इन सातों धारणाग्रों का ग्रतिक्रमण कर के गमन की इच्छा से सूक्ष्म भूत में लय होकर देवता, पन्नग ग्रादि के शरीर में लीन हो जाता है किन्तु किसी में ग्रासक्त नहीं होता। ऐसे योगी को ग्रणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व व कामावसायित्व आदि ग्रष्ट सिद्धियों की प्राप्ति हो जाती है। इनकी प्राप्ति से यह स्पष्ट हो जाता है कि ग्रब योगी मुक्ति के निकट है तथा जन्म-मरणादि का बन्धन ग्रब उसे नहीं व्याप सकेगा। इस प्रकार सब दोषादि को दग्ध करके योगी विशुद्ध स्वर्णवत् बन जाता है तथा ग्रग्नि में ग्रग्नि व जल में जल मिल जाने के समान ब्रह्म में लीन हो ग्रभेद एवं मुक्तता को प्राप्त करता है।

ग्रलर्क ने पुनः जिज्ञासापूर्वक कहा—हे ज्ञानश्रेष्ठ ! ग्रब ग्राप मुझे योगियों के ग्राचार और ब्रह्मपथ से उनके विचलित न होने के सम्बन्ध में भी जानकारी देने की कृपा करें।

दत्तात्रेय जी ने कहा—राजन् ! मान-अपमान ही प्रिय ग्रौर ग्रप्रिय भाव की सृष्टि करते हैं। ये ही इस दृष्टि से अमृत ग्रौर विष हैं। सच्चा योगी इन पर विलोम दृष्टि से सोचता है। वह सदाचारी, विवेकी व सुविचारी होता है। वह लज्जावान्, श्रद्धावान् तथा चतुर गृहस्थ के घर

से ही भिक्षा ग्रहण करता है। दुग्ध, तक्र, यवागु, सत्तू, प्रियंगु, कण आदि भिक्षा का भोग ही योगी के लिए उचित है। प्राणायाम, अपानायाम, समानायाम, उदानायाम और व्यानायाम करते हुए पंचग्रासी शेष भोजन करना योगी का धर्म है। अस्तेय, त्याग, ब्रह्मचर्य, अहिंसा तथा अलोभ ये पांच योगी के परम व्रत हैं। क्रोधहीनता, गुरुसेवा, अल्पाहार, वेदपाठ और शौच उसके लिए पालनीय नियम हैं। सदसदात्मक और गुणदोषमय दृश्यमान जगत् को आत्ममय विचारने वाला योगी ही सच्चा योगी है। विशुद्ध, सर्वाधार, शाश्वत, अव्यय ब्रह्म को ही सर्वत्र विद्यमान देखने वाला तथा जप, तप, ज्ञान आदि की अपेक्षा निःसंग राग-विहीन ध्यान को ही श्रेष्ठ मानने वाला योगी ही मुक्तिलाभ करता है।

नरेश ! सच्चा योगी सम्यक् विधान से योगयुक्त होकर जिस पद को प्राप्त करता है, वहां से शत-शत वर्षों तक च्युत नहीं होता। वह ईश्वर के विश्वरूप का उपासक होता है तथा उसे प्राप्त करने के लिए 'ऊं' का जप करता है। यही उसका श्रवण, मनन और अध्ययन है। इसमें 'अ' 'उ' और 'म्' का समावेश है। ये ही इसकी तीन मात्राएं हैं। इनमें अ कार सात्विक, उ कार राजसिक और म कार तामसिक वृत्ति का द्योतक है। इसकी एक अर्द्ध मात्रा भी है जो सत-रज-तम से रहित, ऊर्ध्व में स्थित है। इसमें गान्धार स्वर संयुक्त है, अतः इसे गान्धारी भी कहा जाता है। यह अति दुर्गम है तथा सच्चे योगियों के लिए ही गम्य है। योगी साधना करते समय प्राण को धनुष, आत्मा को बाण और ब्रह्म को लक्ष्य स्वरूप मान करके उसे तन्मयतापूर्वक सिद्ध करने का यत्न करते हैं। 'ऊं' की साधना बड़ी दुःसाध्य किन्तु फलदायिनी है। यह ब्रह्मा-विष्णु-महेश अथवा ऋग्-यजु-साम स्वरूप है। यह भू, भुवः स्वलोक का बोधक है। इसकी पहली मात्रा व्यक्ता, दूसरी अव्यक्ता व तीसरी चित्शक्ति है अर्द्धमात्रा को परमपद कहा जाता है। यदि इसकी प्रथम मात्रा लघु, दूसरी मात्रा दीर्घ और तीसरी प्लुत है तो अर्द्धमात्रा वर्णनातीत है। जो योगी इस अक्षर ब्रह्म को जान लेते हैं वे परमब्रह्म परमात्मा में विलीन हो जाते हैं। यदि कर्मबन्धन का क्षय न होने के कारण योगी ऐसी स्थिति प्राप्त नहीं कर पाते तो अरिष्ट द्वारा अपनी मृत्यु का आभास पाकर पुनः योगित्व को प्राप्त होते हैं और उस दूसरे जन्म में ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं। सभी योगियों के लिए अरिष्ट का ज्ञान होना आवश्यक है, अतः अब मैं उसका ही वर्णन प्रस्तुत करता हूं।

जो पुरुष आकाश में ध्रुव, शुक्र, सोम, मंगल अथवा अरुन्धती नक्षत्र

को देख न सके उसे संवत्सरपर्यन्त ही अपना जीवन शेष समझना चाहिए। इसी प्रकार जिसे सूर्य किरणविहीन अथवा अग्निकिरणों से युक्त दिखाई दे उसकी आयु ग्यारह मास ही शेष समझनी चाहिए। स्वप्न में मलमूत्र अथवा वमन करने वाला व सोने अथवा चांदी का दर्शन करने वाला व्यक्ति दस मासों में ही मर जाता है। भूत-प्रेत-पिशाच आदि को तथा स्वर्णतरु आदि को देखने वाले का नौ मास का ही जीवन शेष समझना चाहिए। एकाएक स्थूल (मोटा) अथवा क्षीण अथवा क्षीण से स्थूल अथवा स्थूल से क्षीण वाला आठ मास में ही यमलोक का अतिथि बन जाता है। पंक में धंसी एड़ी के अग्रभाग को खण्डित देखने वाला सात मास का, उलूक गिद्ध अथवा श्यामवर्ण के पक्षी के मांस को खाने वाले अथवा पक्षी उस के माथे पर बैठे तो उसे छः मास का, अपनी छाया को विपरीत देखने वाले अथवा धूलवर्षण अथवा कागों द्वारा स्वयं को घायल कर देने वाले को पांच या चार मास का ही अतिथि समझना चाहिए। बिना मेघ दक्षिण दिशा में विद्युत की चमक अथवा रात के समय इन्द्रधनुष के दर्शन करने वाले का तीन या दो माह का ही जीवन शेष जानना चाहिए। जिस व्यक्ति को घृत, तेल, जल या दर्पण में मुंह लगाने पर भी अपनी छाया न दिखलाई पड़े, वह केवल एक मास तक ही जीवित रहता है। जिस व्यक्ति के शरीर से शव की-सी गंध आने लगे वह पन्द्रह दिन से अधिक जीवन धारण नहीं कर सकता। स्नान करने से शरीर या हृदय में कम्प अनुभव करने वाले तथा जल पीने पर पुनः पुनः प्यास अनुभव करने वाले व्यक्ति की दस दिन में मृत्यु जाननी चाहिए। जलस्पर्श से रोमांचित न होने वाले को आसन्न-मृत्यु समझना चाहिए। इसी प्रकार स्वप्न में रीछ, बन्दर आदि पर सवार होकर गायन करने वाले की, काले या लाल वस्त्र धारण करने वाली, हंसती हुई स्त्री के साथ दक्षिण दिशा को जानने वाले की, नग्न बौद्ध संन्यासी को हंसता देखने वाले की तथा अपने शरीर को आपाद मस्तक कीचड़ से सना देखने वाले की शीघ्र ही मृत्यु समझनी चाहिए। स्वप्न में केश, अग्नि, सर्प, भस्म, जलहीन नदी, श्याम-वस्त्रधारी मनुष्य तथा चतुर्दिक गीदड़ों आदि के दर्शन करने वाले भी शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। दीपगंध का अनुभव न करने वाला, भोजन करते ही तुरन्त पुनः क्षुधातुर हो जाने वाला, दूसरे के नेत्रों में अपना प्रतिबिम्ब न देख सकने वाला, टेढ़ी हो गई नासिका वाला, लोहित अथवा श्याम वर्ण की जिह्वा वाला, दोनों कान ढंकने पर अपने ही स्वर को न सुनने वाला तथा स्वप्न में गर्दभ या ऊंट पर सवार होकर दक्षिण दिशा को जाने

वाला व्यक्ति अधिक काल तक जीवित नहीं रह सकता। योगी इन सब अरिष्टों पर विचार करके उपयुक्त रीति से इनका निदान करते हैं। वे स्थिर भाव से उपयुक्त स्थल पर आसीन होकर आत्मा को तन्मय कर इन्द्रियातीत तथा विषयातीत होकर परमपद का लाभ करते हैं। योगी चन्द्रकान्तमणि तथा सूर्यकान्तमणि के समान योगानन्द प्राप्त करता है तथा किसी भी मोह-ममता और भेद-दृष्टि से ग्रस्त नहीं होता।

दत्तात्रेय जी से इस प्रकार ज्ञानलाभ होने पर महाराज अलर्क अति प्रमुदित हुए। उन्होंने दत्तात्रेय जी को प्रणाम करके इस तथ्य को निवेदन किया कि काशीराज तथा सुबाहु मेरे शत्रु नहीं अपितु सुहृद तथा मुझे मोहनिद्रा से जगाने वाले हैं। तदुपरान्त अलर्क भगवान दत्तात्रेय जी का आशीर्वाद लेकर काशीराज के निकट पहुंचा और उसने अपने अग्रज और काशीनरेश को अपना राज्य सौंप दिया। काशीराज ने उससे युद्ध करने तथा क्षत्रिय धर्म का पालन करने को कहा तो अलर्क ने ज्ञानपूर्ण बातों से उन्हें और सुबाहु को मन्त्र-मुग्ध कर दिया। उसकी ज्ञानपूर्ण वार्ता से आनन्दित होकर सुबाहु ने उनका हार्दिक अभिनन्दन किया। इस प्रकार उसका उद्देश्य पूरा हो गया।

काशीराज ने विस्मित होकर सुबाहु से पूछा—बन्धो! आप यह कैसा व्यवहार कर रहे हैं? जिस अलर्क पर आपने मुझसे शत्रुवत् आक्रमण करवाया, उसके प्रति आप यह कैसा व्यवहार कर रहे हैं? इस कार्य से आपके किस उद्देश्य की सिद्धि हुई है? यह सुनकर सुबाहु बोले—अलर्क मेरा परमज्ञानी सहोदर है। हमारी जननी ने हमें स्तनपान सहित ज्ञानोपदेश भी किया था। इतना सब होने पर भी अलर्क के हृदय में तत्वज्ञान का उदय नहीं हो सका। अतः जैसे एक योगी को किसी अन्य योगी के पथभ्रष्ट होने से क्लेश होता है और वह उसकी कल्याणकामना से ही उसके प्रति कुछ करता है, उसी प्रकार मोहाभिभूत अपने अनुज को सन्मार्ग पर लाना ही मेरा उद्देश्य था और उसमें मैं सफलकाम रहा हूं। अपने सहोदर को दुखानुभूति से ज्ञानलाभ कराकर मैं कृतकृत्य हुआ। हे भुवनपते! आपने इस महत कर्म में मेरी सहायता की है, आपका कल्याण हो। अब मैं पुनः सिद्धिलाभ हेतु जाता हूं।

इस पर काशीराज ने कहा--आपने धर्मनिष्ठ व साधु वृत्ति वाले अलर्क का तो कल्याण किया अब अपने सत्संग से मेरा भी तो कुछ उपकार कीजिए। सुबाहु बोले—कृपालु राजेन्द्र! आपको चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में से प्रथम तीन प्राप्त हैं। मोक्ष के विषय में मैं जो कुछ कहता

हूं, उसे आपध्यानपूर्वक सुनिए। यह 'मैं' 'मेरा' आदि अहंकार से विरत होकर धर्म की सम्यक् समालोचना करके और उसका आचरण करके अव्यक्त से लेकर व्यक्त प्रकृतिपर्यन्त सभी विषयों को जान लेना चाहिए। यह सब जान लेने पर ही आपका ज्ञान पूर्ण होगा। देह अनात्म है, उसमें आत्मबोध करना तथा जो अपना नहीं है उसे अपना समझना, मूढ़ता है। इतना कहकर सुबाहु वहां से चले गये और काशीराज भी अलर्क से ससम्मान मिलकर विदा हुए। तदुपरान्त अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौंप कर अलर्क भी सिद्धिलाभ हेतु बनवासी हुए।

अलर्क का यह दृष्टान्त सिद्ध करता है कि विशुद्ध ज्ञान होने पर दृश्यमान जगत पाशवत् लगता है और मनुष्य अनुभव करता है कि इस पाश को काटने हेतु ब्रह्मज्ञान ही सर्वोत्तम साधन है। हे तात ! आपकी आज्ञा से मैं भी इसी को प्राप्त करने का प्रयत्न करूंगा और आप भी ऐसा ही करें। जड़ पुत्र ने पिता से यह कहा और वह बन को चला गया। पिता ने भी वैसा ही किया और कालान्तर में परसिद्धि प्राप्त की।

यह सारा वृत्त सुनाकर पक्षियों ने कहा—महर्षे ! इस अलर्क-दत्तात्रेय प्रसंग को सुनने और पढ़ने वाले श्रद्धालु साधक अवभृथ स्नान (अश्वमेघ यज्ञ की सफल समाप्ति पर किया जाने वाला स्नान) का पुण्य प्राप्त करता है।

पक्षीवृन्द से इस सारे वृत्तान्त को सुन लेने पर महर्षि जैमिनी ने उनके ज्ञान की अति प्रशंसा करते हुए उनका संगलाभ करने के लिए स्वयं को धन्य माना। पुनः उन्होंने निवेदन किया—आपके समान परमज्ञानी पक्षीपण्डितों को पाकर यदि चराचर सृष्टिविषयक मेरी जिज्ञासा शान्त न हुई तो फिर अन्यत्र कहां होगी ? अतः आप इस विषय में भी मुझे कुछ विस्तारपूर्वक बतलाने की कृपा करें।

पक्षियों ने कहा—विप्र ! यही प्रश्न क्रौष्टुकी ने ज्ञान-निधान वेदज्ञ मार्कंण्डेय जी से किए थे। उन्होंने इनके जो उत्तर दिए थे वे सब सर्जनकर्त्ता ब्रह्मा को, पालनकर्त्ता विष्णु को और संहारकर्त्ता शिव को प्रणाम करके हम आपके प्रति कहते हैं। आप श्रद्धापूर्वक श्रवण करें।

पूर्वकाल में अव्यक्त योनि ब्रह्मा जी के उत्पन्न होते ही उनके चारों मुखों से वेद-पुराणादि निःसृत हुए। इनके बिना ज्ञान, धर्म, वैराग्य आदि की सत्ता नहीं। तब ब्रह्मा जी के मन से सप्तर्षियों की उत्पत्ति हुई। उन्होंने तथा अन्य मानसोत्पन्न ऋषियों ने वेद-पुराणादि को शत-सहस्र भागों में विभक्त किया। तदुपरान्त इन्हें भृगु जी ने च्यवन ऋषि को सौंप दिया।

च्यवन ऋषि से ऋषि-परम्परा से यह अन्य ऋषियों को और उनसे दक्ष को मिला। दक्ष से यह ज्ञान हमें प्राप्त हुआ जो हमारे पास सुरक्षित है। उसे ही हम आपके प्रति कहते हैं।

हे महाभाग! ब्रह्म ही सद्सदात्मक, सूक्ष्म, अव्यक्त, अक्षय, नित्य, रूप-रसगन्धहीन, शब्द-स्पर्श रहित, सृष्टि का उत्पत्ति कारण हैं, वे ही सर्वप्रथम व सर्वोपरि विराजित हैं तथा प्रलय के पश्चात् भी विद्यमान रहते हैं। उस समय सब कुछ उनमें ही लय होकर विद्यमान रहता है। सृष्टि के आदि में प्रधान तत्त्व उत्पन्न होता है जो महत् तत्त्व को आवृत्त कर लेता है। यह सत्व, रज और तमोगुण युक्त होता है। इसी से अहंकार, जो वैकारिक, तैजस और तामस भेद से तीन प्रकार का है, की उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार ही भूतादि कहा जाता है। इसी से शब्द लक्षण युक्त आकाश की, स्पर्श लक्षण युक्त वायु की, ज्योतिर्मय अग्नि की, रसरूप जल की और गंधमय पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। सात्विक अथवा वैकारिक अहंकार से वैकारिक सृष्टि का सर्जन होता है। परिणामस्वरूप दस वैकारिक देवता, पांच कर्मेन्द्रियां और पांच ज्ञानेन्द्रियां उपलब्ध होती हैं तथा ग्यारहवां मन कहलाता है।

आकाश शब्द मात्र है उससे द्विगुण वायु की उत्पत्ति होती है। तब क्रमशः वायु (स्पर्श) से मिलकर रूप अथवा शब्द, स्पर्श-रूप से रस और इन सबके सघटन से पृथ्वी की रचना होती है। इसी भूमि में समस्त लोकालोक सन्निविष्ट रहते हैं। नाना वीर्यवान पदार्थ जब तक परस्पर सम्मिलित नहीं होते तब तक सृष्टि का निर्माण नहीं हो सकता। जब ये एकता को प्राप्त होते हैं तो पुरुष के अधिष्ठान और प्रकृति के अनुग्रह से इनमें अण्ड की उत्पत्ति होती है। यह जल के बुलबुले के समान धीरे-धीरे वर्धित होता है और यही प्रथम शरीर पुरुष नाम से जाना जाता है, जो मूलतः ब्रह्म है। इसी से भूतगणादि की सृष्टि होती है। इस ब्रह्माण्ड का पर्वत मेरु और सागर उसके भीतर का सलिल है। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि, सब ज्योतिष्क लोक और सभी गुण आदि ब्रह्म में ही स्थित हैं। प्रकृति इसे महत् तत्व सहित आवृत्त किये रहती है। यह प्रकृति सप्त आवरण युक्त होकर उस अण्ड को तथा अष्ट प्रकृति परस्पर को आवृत्त किये रहती है।

ब्रह्म नामधारी यह पुरुष जल में डूबे व्यक्ति के उठने की क्रिया के समान है। जैसे वह व्यक्ति इस क्रिया को करते समय जल-द्रव को फेंक देता है वैसे ही ब्रह्म भी प्रकृति के आवरण से स्वयं को मुक्त कर लेता है। यह प्रकृति ही क्षेत्र और ब्रह्म क्षेत्रज्ञ है। यही क्षत्र-क्षेत्रज्ञ के लक्षण हैं। इस

प्रकार क्षेत्राधिष्ठित प्राकृत सृष्टि अबुद्धिपूर्वक विद्युत्वत प्रकट हुई है।

ब्रह्मा और ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति का वर्णन करने के उपरान्त मार्कण्डेय जी ने क्रौष्टुकि से कहा—ऋषे! इस विश्व का प्रकृति में लीन होना ही प्राकृत प्रलय कहा जाता है। उस समय सब गुण एक हो जाते हैं तथा प्रकृति और पुरुष साधर्म्य में अवस्थित होते हैं। प्रजापति ब्रह्मा का रात-दिन आठ हजार युग का होता है और इसी परिमाण से वे सौ वर्ष जीवित रहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा की सौ अवस्थाओंपर्यन्त विष्णु की एक अवस्था का परिमाण माना गया है। शिवजी के अर्द्ध निमेष में चौदह हजार विष्णु व अनगिनत ब्रह्मा हो चुके होते हैं, किन्तु वस्तुतः इस ब्रह्म का आदि-अन्त कहीं नहीं है। जैसे मदनवायु युवतियों में क्षोभ उत्पन्न करती है वैसे ही यह ब्रह्म पुरुष और प्रकृति में प्रविष्ट होकर उन्हें क्षोभित करते हैं। इस प्रकार वे स्वयं ही सर्वत्र विराजित रहते हैं। वे ही समस्त चराचर सृष्टि के रचयिता, पालक व संहारकर्ता हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश नाम से जाने जाते हैं। वे ब्रह्मा-मान के शत वर्षपर्यन्त बने रहते हैं। काल के परिमाण का परिचय इस प्रकार से है।

पन्द्रह निमेषों की एक काष्ठा, तीस काष्ठाओं की एक कला, तीस कलाओं का एक मुहूर्त तथा तीस मुहूर्तों में मानव का एक रात-दिन होता है। तीस दिन-रातों का एक माह होता है। एक माह में दो पक्ष होते हैं। छः मास का एक अयन होता है। एक वर्ष में दो अयन—दक्षिणायन और उत्तरायण होते हैं। मानव का एक वर्ष देवताओं का एक रात-दिन है, जिसमें उत्तरायण दिन होता है और दक्षिणायन रात होती है। दिव्यपरिमाण से बारह हजार वर्षों में चार युग होते हैं। इनमें से चार हजार वर्ष सतयुग, तीन हजार वर्ष त्रेता, दो हजार वर्ष द्वापर और एक हजार वर्ष कलियुग के होते हैं। शेष दो हजार वर्षों में सतयुग की ४०० सन्ध्याएं और ४०० सन्ध्यांश, त्रेता की ३०० सन्ध्याएं और ३०० सन्ध्यांश और द्वापर की २०० सन्ध्याएं और २०० सन्ध्यांश तथा कलियुग की १०० सन्ध्याएं और १०० सन्ध्यांश हैं। इन १२००० दिव्य वर्षों को सहस्र गुना करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, वही ब्रह्मा का एक दिन कहा जाता है। ब्रह्मा के इस एक दिन में १४ मनु होते हैं। इकहत्तर चतुर्युग में एक मन्वन्तर होता है और उस दिन का अन्त ही प्रलय कहा जाता है। यह नैमित्तिक प्रलय होता है। इस प्रलय में भू, भुवः और स्वर्लोक के वासी महर्लोक में चले जाते हैं। महर्लोक के निवासी जनलोक को गमन करते हैं। सम्पूर्ण त्रिभुवन एक सागर बन जाता है। रात्रि होने पर (जो ब्रह्मा-

दिवस के समान ही परिमाणी होती है,) ब्रह्मा जी शयन करते हैं और प्रातः होने पर पुनः सृष्टि की रचना रचते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा के एक वर्ष में ३६० प्रलय हो जाते हैं। इनके एक सौ वर्ष को पर कहा जाता है। पचास शत वर्षों का एक परार्द्ध होता है। ब्रह्मा का एक परार्द्ध बीत चुका है। उसके अन्त में पाद्म नामक महाकल्प हुआ था। दूसरा परार्द्ध जिसका नाम वराह है तथा जो प्रथम कल्प माना जाता है, इस समय चल रहा है।

हे द्विज ! अब मैं आपके प्रति पाद्म नामक प्रलय के पश्चात् ब्रह्मा जी द्वारा नवसृष्टिरचना का वर्णन करता हूं। आप श्रद्धापूर्वक तथा सावधान होकर श्रवण करें। शयनोपरान्त जब ब्रह्मा जी जागे तो उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि में उलट-पलट पाया। तब उन्होंने नारायण की स्तुति की और वे वराह रूप धारण कर जल के नीचे से पृथ्वी को निकाल कर लाये। वह पृथ्वी जल में स्थिर नहीं हो पा रही थी, अतः उसे बराबर करने और उसे आधार देने के लिए सर्वप्रथम पर्वतों की रचना की गई। पुनः भू को सप्त द्वीपों में विभक्त किया गया। इसके पश्चात् जिस सृष्टि की रचना हुई वह तमोगुण प्रधान होने से अन्तः तथा बाह्य रूप में अंधकारावृत्त थी। यह सृष्टि-सर्ग कहलाया। ब्रह्मा जी ने पुनः दूसरी रचना की और तिर्यक स्रोत वाली सृष्टि अस्तित्व में आई। इससे भी प्रसन्न न हो सकने के कारण ब्रह्मा जी ने तीसरी सृष्टि देवसर्ग की रचना की। इस सृष्टि में उत्पन्न होने वाले सतोगुणी, प्रकाशयुक्त व सन्तुष्टवृत्ति वाले जीव हैं। इससे भी सृष्टि-विकास की सम्भावना न देखकर ब्रह्मा जी ने चतुर्थ सृष्टि की। यह चौथी सृष्टि अर्वाक्-स्रोत सर्ग कही जाती है। इसमें तमोगुण कम, सतोगुण थोड़ा अधिक और रजोगुण प्रधान है। इसमें मानवों की गणना होती है। पंचम सृष्टि अनुग्रह कही जाती है। यह विपर्यय, सिद्धि, शान्ति और पुष्टि द्वारा चार भागों में बंटी है। समस्त भूतों की रचना छः सर्ग के नाम से जानी जाती है।

ब्रह्मा की सृष्टि जिससे होती है उसे महत् सृष्टि कहा जाता है। ब्रह्मा की सृष्टि को भूत सर्ग की और तीसरो को ऐन्द्रिय और चतुर्थ वैकारिक सृष्टि कही जाती है। मुख्य तिर्यक योनि की पंचम, उर्ध्व स्रोत की छठी, अर्वाक स्रोत की सातवीं तथा अनुग्रह की आठवीं सृष्टि कही गयी है। विकारी कौमार नवम सृष्टि है। ये ही प्रजापति ब्रह्मा की नव संख्यक सृष्टि हैं। ब्रह्मा जी ही जगत् के मूल कारण हैं।

इतना सब कुछ जान लेने के उपरान्त भी क्रौष्टुकि की ज्ञान-पिपासा

शान्त न हुई, अतः उन्होंने मार्कण्डेयजी से सृष्टि प्रकरण को अधिक विस्तार से समझाने का निवेदन किया। इस पर महर्षि ने कहा—वत्स ! जीवादि के पूर्व कर्मों के अनुसार ही उसके पुनर्जन्म आदि होते हैं। नव्य सृष्टि में यह कर्म सहायक होते हैं, क्योंकि प्रलय काल में वे केवल संहृत होते हैं निवृत्त नहीं, अतः ब्रह्मा जी ने प्रलयोपरान्त पुनः देवताओं, असुरों, पितरों और मनुष्यों की रचना की। उन्होंने प्रथम तमोगुण प्रधान असुरों को अपनी जंघा से उत्पन्न किया और इस उद्देश्य से निक्षेपित तमोगुण से रात्रि की रचना हुई। तदुपरान्त हर्षित भाव से सतोगुण से पूर्ण अपने मुंह से देवताओं की सृष्टि की और उसी से दिन की सृष्टि भी हुई। पुनः सतोगुण से ही पितरों की और सन्ध्या की रचना हुई। इसके बाद रजोगुणात्मक वृत्ति से राजसी वृत्ति प्रधान मनुष्यों की रचना और उस कालधारित शरीर के त्याग से चन्द्रिका की सृष्टि हुई। यही कारण है कि दिन में देव, रात्रि को असुर, सन्ध्या को पितर और चन्द्रिका में मनुष्य अधिक शक्तिशाली एवं दुर्जेय होते हैं। इस रचना के उपरान्त राक्षसों और यक्षों की सृष्टि हुई। ब्रह्मा के केशों से सर्प अस्तित्व में आए। इसी क्रम में गंधर्व, मांसभोजी गण आदि उत्पन्न हुए। ब्रह्मा जी के शरीर के विभिन्न अंगों से गौ, अश्व, हाथी, खरगोश, गर्दभ, ऊंट, मृग आदि पशु, रोमावली से औषधियां आदि अस्तित्व में आए। गौ, अश्व आदि ग्राम्य पशुओं की रचना के बाद उन्होंने वराह, द्विखुर, श्वपद, पक्षी, जलचर आदि की सृष्टि की। ये आरण्यक कहलाते हैं। यज्ञ-सृष्टि में रत होकर अज प्रजापति ने मुख से यज्ञ, गायत्री, त्रिष्टुप्, त्रिवृत् साम, रथन्तर और अग्निष्टोम को उत्पन्न किया। इनकी रचना चतुराननने अपने विभिन्न मुखों से की। सभी को कर्मानुसार बार-बार जन्म धारण कर पूर्व-निर्धारित कर्म ही करने पड़ते हैं क्योंकि सभी के कर्मों का निर्धारण सृष्टि के आरम्भ में हो चुका होता है। प्राणियों में इन्द्रिय आदि की रचना ब्रह्मा जी ने ही की है किन्तु उनके नाम, रूप, कृत्याकृत्य आदि वेद-शास्त्र द्वारा निर्धारित हुए हैं। ऋषियों के नाम तथा देवादियों की रचना पूर्ववत् प्रलयोपरान्त ही की गई है। इसी विधि से ब्रह्मा जी जो स्वयं अज एवं अव्यक्त हैं, प्रत्येक प्रलय के पश्चात् सृष्टि सर्जन करते हैं।

मार्कण्डेय जी बोले—विप्र ! अब मैं ब्राह्मणादि सभी वर्णों के कर्मों का वर्णन करता हूं। प्रारम्भ में ब्रह्मा जी के मुख, वक्ष, उरु तथा चरणों से विभिन्न मिथुनों की उत्पत्ति हुई। फिर अंग-संघर्षण से द्वन्द्वशील प्राणी पैदा हुए, जो मैथुन द्वारा संतानोत्पत्ति करते थे। प्रारम्भ में नारी अधिक

ग्रायु हो जाने पर एक ही बार गर्भ धारण करती थी। उस समय के लोग पूर्ण-आयु थे। वे पर्वतों में रहते थे ग्रौर सहस्रों वर्षों तक जीवित रहते थे। उनमें राग-द्वेषादि दोष नहीं थे और सब में सद्भाव था।

दैववशात् इस स्थिति में ग्रन्तर ग्राया। सभी सिद्धियां क्षीणतेज हो गईं ग्रौर तब आकाश से रसवृष्टि होने से लोगों को दुग्धादि की प्राप्ति हुई तथा उनके गृहों के ग्रांगनों में कल्पतरु पैदा हुए। इन तरुग्रों से ही उन की सब इच्छाएं पूर्ण हो जाती थीं। इसके पश्चात् लोगों में राग-द्वेष, लोभ-मोह ग्रादि विकार उत्पन्न होने से कल्पवृक्ष लुप्त हो गये ग्रौर उन के स्थान पर चार शाखा वाले, मधु देने वाले, मक्षिका-वृक्ष तथा वस्त्राभरण उत्पन्न करने वाले वृक्ष पैदा हुए, किन्तु कालान्तर में ये भी नष्ट हो गये। लोगों में मोह-ममता ग्रादि का ग्राधिक्य हो गया, जिससे वे ग्रपने ग्रावास के लिए पुर, किले ग्रादि बनाने लगे। इसके लिए परिमाण की कल्पना की गई। परिमाण की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नोक्त रूप से है।

सूर्य किरण में दिखलाई पड़ने वाले धूलकण के षष्ठांश को परमाणु कहा जाता है। तीस परमाणुग्रों का एक त्रसरेणु, तीस त्रसरेणुग्रों का एक केशाग्र, तीस केशाग्रों का एक निष्क, तीस निष्कों का एक यूका होता है। ग्राठ यूकों या यवों का एक ग्रंगुल, छः ग्रंगुलों का एक पद ग्रौर दो पदों का एक बिलस्त होता है। दो बिलस्तों का एक हाथ, चार हाथों की एक नाडिका या धनुर्दण्ड होता है। दो हजार धनुर्दण्डों की एक गव्यूति और चार गव्यूतियों का एक योजन होता है।

इसी परिमाण में दुर्गों की रचना हुई। इसके पश्चात् लोगों ने पुर बनाये। ये पुर परिखाग्रों से घिरे ग्रौर दिवारों से परिवृत तथा दो-दो कोस लम्बे हुग्रा करते थे। इसके उपरान्त खेटकों, खर्वटकों, द्रोणीमुखों, शाखा-नगरों, द्रमियों, ग्रामों ग्रौर संघोषों की रचना हुई। इनमें इन्होंने घरों की रचना की। ये गृह वृक्षों के अनुकरण पर बनाये गये क्योंकि भवनों से पूर्व मानव उन्हीं पर वास करता था। तत्पश्चात् उन्हें जीविका की चिन्ता हुई। इस समय तक त्रेता युग का प्रारम्भ हो चुका था। चिन्तातुर लोगों को इच्छानुसार जलवृष्टि कराने की सिद्धि प्राप्त हुई। इससे नदियां बनीं तथा बिना बोये सब ऋतुग्रों में फलदायी १४ प्रकार के वृक्ष व गुल्म उत्पन्न हुए। इनमें फल, पुष्प ग्रौर ग्रौषधियां लगीं। लोभ ग्रौर स्वार्थवश इनका ग्रनुचित प्रयोग होने से ये सभी वस्तुएं शीघ्र ही नष्ट हो गईं। ग्रब क्षुधा से ग्रार्त्त जनों ने प्रजापति ब्रह्मा की शरण ली। ब्रह्मा जी ने सुमेरु को गौवत्स बनाकर पृथ्वी रूपी गौ को पिन्हाया ग्रौर पृथ्वी

ने सभी प्रकार की औषधियों तथा धान्यों को उगल दिया, किन्तु यह क्रिया एक ही बार हुई। अतः कृष्टपच्या की स्थिति में औषधियों को बनाया गया। इस प्रकार जीवन-यापन का समुचित साधन प्राप्त होने पर ब्रह्मा जी ने स्वयं सब वर्णों के धर्मों, पदों और स्थानों का निर्धारण किया। क्रियानिष्ठ ब्राह्मणों के लिए प्राजापत्य, रणधीर क्षत्रियों के लिए ऐन्द्र-स्थान स्वधर्मरत वैश्यों के लिए मारुत स्थान और सेवापरायण शूद्रों के लिए गन्धर्व स्थान का निर्धारण किया गया। इसी प्रकार गृहस्थ के निमित्त प्राजापत्य, संन्यासियों के हेतु अक्षय ब्रह्मपद तथा योगियों के लिए अमृतरूप मोक्ष स्थान का निर्धारण किया गया।

इस महत् कृत्य के उपरान्त ब्रह्मा जी की कार्यकारणयुक्त मानसी प्रजा उत्पन्न हुई। इसके जन्म के साथ ही उनकी स्थावर व जंगम सृष्टि का सृजन सम्पन्न हो गया। उनके मानस पुत्रों में भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरा, मरीचि, दक्ष, अत्रि और वशिष्ठ की गणना होती है। इनकी रचना के पश्चात् रुद्र को उत्पन्न किया गया और फिर संकल्प तथा धर्म बने। स्वयं ब्रह्मा जी ने इससे पूर्व ही सनन्दन आदि को सृजा था किन्तु वे सभी उनकी सृष्टि बढ़ाने के प्रति निरपेक्ष रहे थे, अतः क्रोधाभिभूत होकर उन्होंने एक अति प्रचण्ड एवं दिव्य पुरुष को सृजा, जो अर्द्धाङ्ग से नारी और अर्द्धाङ्ग से पुरुष था। ब्रह्मा जी ने उसे अपनी देह खण्डित करने का आदेश दिया और अन्तर्धान हो गये। उसने भी ब्रह्मा जी की आज्ञा का पालन किया और तबसे स्त्रीत्व और पुरुषत्व अस्तित्व में आये। उस पुरुष को 'स्वयंभू मनु' के नामसे सम्बोधित किया गया तथा स्त्री शतरूपा नाम से ख्यात हुई। मनु व शतरूपा के दो पुत्र और दो पुत्रियां हुई। पुत्रों के नाम प्रियव्रत व उत्तानपाद थे। कन्याओं के नाम आकूति और प्रसूति थे। उनके विवाह क्रमशः प्रजापति रुचि और दक्ष से हुए। इनके एक पुत्र यज्ञ और एक पुत्री दक्षिणा हुई। इन दोनों का परस्पर विवाह हुआ। इनके १२ पुत्र हुए, जिन्हें 'याम' देवता के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई। दक्ष और प्रसूति की २४ कन्याएं हुई। उनके नाम हैं—श्रद्धा, लक्ष्मी, धृत्ति, तुष्टि, पुष्टि, मेधा, क्रिया, बुद्धि, लज्जा, वपु, शान्ति, सिद्धि, कीर्ति, ख्याति, सती, संभूति, स्मृति, प्रीति, क्षमा, सन्नति, अनसूया, ऊर्जा, स्वाहा और स्वधा। इनमें से प्रथम १३ को धर्म ने पत्नीरूप में ग्रहण किया। शेष ग्यारह को क्रमशः भृगु, महादेव, मरीचि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, वशिष्ठ, अत्रि और अग्नि ने ग्रहण किया। श्रद्धा का काम, श्री का दर्प, धृति का नियम, तुष्टि का संतोष, पुष्टि का लोभ, मेधा का श्रुत, क्रिया का दण्ड,

बुद्धि का बोध, लज्जा का विनय, वपु का व्यवसाय, शान्ति का क्षेम, सिद्धि का सुख तथा कीर्ति के यश नामक पुत्र हुए। अधर्म की पत्नी का नाम हिंसा था। इस परम्परा में अनृत (असत्य) नरक, भय आदि पुत्र तथा माया, वेदना आदि कन्याओं का जन्म हुआ। इनसे ही आगे चलकर मृत्यु, दुःख, व्याधि, जरा, शोक, तृष्णा और शोक की उत्पत्ति हुई। मृत्यु की एक भार्या अलक्ष्मी है, इसके चौदह पुत्र मानव के विभिन्न अंगों में बसते हैं। इनमें से एक का नाम दुःसह है। यह अति भयानक है। यह सदा भूख से व्याकुल, नग्न, अधोमुख और काग वत् कर्कश स्वर से युक्त रहता है। वह अति क्षुधित होकर ब्रह्मा जी की सम्पूर्ण सृष्टि को भक्षण करने को तत्पर हुआ तो ब्रह्मा जी ने उसे ऐसा क्रोध त्यागने को कहा तथा निर्धारित किया कि विश्व में जो कुछ भी अग्राह्य, धर्मविरुद्ध, अपवित्र, घृणित और त्याज्य है वही तुम्हारा भक्ष्य होगा। इस रूप में तुम्हें जो कुछ प्राप्त होगा वही तुम्हें बली व पुष्ट बनाएगा। अधार्मिक, व्यभिचारी, स्त्रैण, असंस्कारी, दम्भी, आडम्बरी, क्रोधी, हीनचेता जन के गृह में तुम्हारा वास होगा। इनके विपरीत शुद्ध आचरण करने वालों के घरों को तुम्हें त्याग देना चाहिए। इसी प्रकार देशाचार, काल-धर्म, होम, जप, देवपूजा, मंगल-कार्य तथा सम्यक् प्रकार से लोकवाद का आचरण करने वालों के निकट तुम नहीं जा सकोगे। इसके विपरीत दुष्ट आचरण-कर्ता ही तुम्हें परम-प्रिय होंगे। इतना कह कर ब्रह्मा जी अन्तर्धान हो गये और दुःसह उस समय से उनकी आज्ञा का पालन करने लगा।

मार्कण्डेय जी ने पुनः कहा—ऋषिप्रवर! दुःसह का विवाह यम की कन्या निर्माष्टि से हुआ। इनके आठ पुत्र तथा आठ पुत्रियां हुईं। पुत्रों के नाम इस प्रकार से हैं—दन्ताकृष्टि, तथोक्ति, परिवर्त्त, अंगधुक, शकुनि, गंड, प्राप्तरति, गर्भहा और शस्यहा तथा आठ पुत्रियों के नाम हैं—नियोजिका, विरोधिनी, स्वयंहार-करी, भ्रामणी, ऋतुहारिका, स्मृति-हरा, बीजहरा व विद्वेषिणी। ये सभी पुत्र-पुत्रियां महाभयंकर थे। इनसे रक्षा तथा इनके शमन की विधि संक्षेप में इस प्रकार से हैं:—

प्रथम पुत्र नवजात शिशु के दन्त में कष्ट उत्पन्न करता है। इसे दूर करने के लिए श्वेत सरसों का बिखराव, औषधि स्नान और रेशमी वस्त्र का प्रयोग ही उपचार है।

द्वितीय पुत्र अशुभ कर्म को शुभ बतलाता और उसे ही करने की प्रेरणा देता है। इसके शमन हेतु कीर्तन, शुभ कथन आदि उपयुक्त हैं।

तीसरा पुत्र मिथ्या-कथन, किसी अन्य के क्षेत्र में किसी अन्य के गर्भ

के स्थापन आदि कर्म कराता है। इसके लिए श्वेत सरसों का प्रयोग उपयोगी है।

चतुर्थ पुत्र शरीर में वायुवत् कम्पन्न उत्पन्न करता है। इसका उपचार शरीर में कुशाघात है।

शकुनि नामक पंचम पुत्र श्वान, काग, शृगाल आदि में बसता है और उन्हीं के माध्यम से शुभाशुभ बोध कराता है। उसी के अनुरूप कार्य—स्थगन अथवा प्रारम्भ—करना चाहिए।

छठा कुमार सभी मांगलिक कार्यों को क्षय करने का उद्यम करता है। इसके हेतु ब्राह्मण का आशीर्वाद, देव-स्तुति, गौ-मूत्र और श्वेत सरसों से स्नान आदि का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

सातवां पुत्र नारी के गर्भ को विनष्ट करने का प्रयत्न करता है। शुद्ध एवं शुभाचरण ही इसका उपचार है।

आठवां पुत्र धान्य, कृषि आदि का विनाश करता है। खेत में पुराना जूता रखना तथा खेत में चाण्डाल का प्रवेश कराना आदि इसका उपचार है।

इसी प्रकार आठों कन्याएं भी अशुभ, अमंगल, निकृष्ट और पतित कर्म कराने तथा शुभ कर्मों में बाधा उपस्थित करने वाली हैं। ये गर्भवती स्त्री को तथा गर्भिणी गौ आदि को अधिक सताती हैं। अन्नादि की चोरी कराती, जूठन खिलवाती तथा ऐसे ही अन्य कार्य कराती हैं। इनसे बचने के लिए भजन-कीर्तन करना, अशुभ स्थानों आदि में न जाना ही उचित है। इनकी ३८ सन्तानें– पिशुन, श्येन, काक, गिद्ध, कबूतर, उल्लू, विजल्या, कलह, विरूप, विकृत, विघ्न, मोहिनी, क्षुद्रक तथा प्रचोदिका आदि हैं। ये नानाविध उत्पात कराने, अशान्ति फैलाने, कष्ट देने, शांति भंग करने, मिथ्या वचन कहलवाने, वैर कराने तथा शस्त्रादि के अपहरण कराने में प्रवृत्त करते हैं। इनके समाधान हेतु धर्माचरण, शिवपूजन, कीर्तन, शुद्ध और पवित्र स्थान पर वास, भोजन, उचित विधि से विवाह सम्पन्न करना आदि आवश्यक है। ये सब पापाचारी दुःसहगण चराचर में विद्यमान हैं तथा धर्म, अर्थ, काम, नीति, सदाचार, सुविचार आदि का विनाश कर रहे हैं। इनसे उपर्युक्त विधि से बचा जा सकता है।

मार्कण्डेय जी ने इस प्रकार अव्यक्त ब्रह्म की तमोगुणी सृष्टि का वर्णन करने के उपरान्त रुद्र सर्ग का परिचय देते हुए कहा—महात्मन्! ब्रह्मा जी के शरीर से उत्पन्न अष्ट पुत्रों में से एक पुत्र नीललोहित था। एक बार वह उनके अंक में बैठकर रुदन करने लगा। ब्रह्मा जी के यह

पूछने पर कि तू क्यों रोता है' उसने उनसे अपना नाम रखने की प्रार्थना की। ब्रह्मा जी ने उसे 'रुद्र' नाम प्रदान किया। इसके पश्चात वह सात बार और रोया तथा इस आधार पर ब्रह्मा जी से उसे भव, शर्व, ईशान, पशुपति, भीम, उग्र और महादेव ये सात नाम और प्राप्त हुए। इन अष्ट नामों को क्रमशः सूर्य, जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु, आकाश, दीक्षित, द्विज व सोम मूर्त्तियों में प्रतिष्ठित किया गया। इनकी क्रमशः आठ पत्नियों के नाम सुवर्चला, उमा, विकेशी, स्वधा स्वाहा, दिक्, दीक्षा व रोहिणी हैं। शनिश्चर, शुक्र, लोहितांग, मनोजव, स्कन्द, सर्ग, सन्तान तथा बुध इनके क्रमशः पुत्र हैं। रुद्र ने सती को भार्यारूप में प्राप्त किया जो कालान्तर में दक्ष के यज्ञ में अपना देह त्यागने को विवश हुई थी। वही फिर मेनका के गर्भ से हिमवान् के गृह में जन्मी थी। समुद्र का सखा उसका भाई था। हिमवान् के गृह में उसका नाम पार्वती हुआ तथा शिवजी ने पुनः उससे विवाह किया।

कौष्टुकि बोले, — महाप्रभो ! आपके मुखारविन्द से अध्यात्म ज्ञान की चर्चा सुनते हुए मेरी तृप्ति नहीं हो रही है। यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो मेरा आपसे विनम्र निवेदन है कि अब आप मुझे नदियों, सागरों, द्वीपों, पर्वतों आदि के विषय में महाभूतों और लोकालोकों के परिमाण के विषय में तथा सूर्य-चन्द्रादि की गति व्यास के समबन्ध में विस्तारपूर्वक बताने की कृपा करें।

मार्कण्डेय जी बोले— विप्र ! यदि अपनी श्रद्धा है तो दत्तावधान होकर सुनिये। —यह पृथ्वी पचास करोड़ योजन विस्तृत है। जिन सात द्वीपों का मैंने पहले वर्णन किया है, वे क्रमशः अपने पूर्ववर्ती द्वीप से द्विगुणित विस्तृत हैं। इसी क्रम से ये लवण, इक्षु, सुरा, घृत, दधि, दुग्ध और जल सागर से घिरे हैं। जम्मू द्वीप का वृत और विस्तार एक लाख योजन है। उसके वर्षपर्वतों के नाम हैं— हिमवान्, हेमकूट, ऋषभ, मेरु, नील, श्वेत और शृंगी। इसके मध्य भाग में दो महागिरि हैं, जो दो-दो लाख योजन विस्तृत हैं। उनके उत्तर व दक्षिण में भी दो पर्वत हैं, जो दस-दस हजार योजन उन्नत हैं। शेष सब दो हजार योजन विस्तृत तथा उच्च हैं। इसके मध्य में समुद्रगत ६ वर्षपर्वत हैं तथा इसके उत्तर व दक्षिण में ३३ वर्ष हैं। यह पृथ्वी उत्तर-दक्षिण में नीची और मध्य में उँची है। छः वर्ष के मध्य इलावृत वर्ष चन्द्राकार सुशोभित है। जिसके पूर्व में भद्राश्व व पश्चिम में केतुमाल हैं। इलावृत के मध्य में अतिविशाल (चौरासी हजार योजन ऊंचा, सोलह हजार योजन लम्बा और इतना ही विस्तृत) सुमेरु पर्वत है।

यह महापर्वत कंचन का है तथा इसकी चोटी शराव (बरतन) के आकार की और ३२००० योजन ऊंची है। पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण में इसका वर्ण क्रमशः श्वेत, नील, लोहित और पीत है तथा इसके प्रान्तों में ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का वास है। इसी के ऊपर इन्द्र व ब्रह्मा की सभाएं हैं। इसके चारों ओर चार पर्वत—मन्दर, गन्धमादन, विपुल व सुपार्श्व—हैं। इन पर ग्यारह सौ योजन परिमाण वाले चार वृक्ष क्रमशः कदम्ब, जामुन, पीपल व बट हैं। पूर्व दिशा में जठर व देवकूट पर्वत हैं। इसी प्रकार मेरु के पश्चिम में निषध व परियात्र, दक्षिण में हिमवान् तथा उत्तर में शृंगवान् और जारुधि पर्वत हैं। इलावृत के मध्य स्थित आठों पर्वतों की यही मर्यादा है। गन्धमादन पर्वत के जम्बूफल शिखर से रस की जो धारा प्रवाहित होती है वह जम्बू नदी के नाम से प्रसिद्ध है। इस क्षेत्र में जामुन वृक्ष के तल तक में बसने वाले इसी नदी का जल पान करते हैं। भद्राश्व में अश्वशिरा, भारत में कूर्माकृति विष्णु, केतुमाल में वराह तथा उत्तर में मत्स्य रूपधारी नारायण विराजमान हैं। नक्षत्र ग्रहादि की दशा और ऋषि-मुनियों के गमनागमन से इस पर सुख-सौभाग्य और विपत्ति आदि का प्रभाव भी पड़ता रहता है।

इन मन्दरादि पर्वतों के आसपास चार वन और चार सरोवर हैं। पूर्व में चैत्ररथ, दक्षिण में नन्दन, पश्चिम में वैभ्राज और उत्तर में सावित्र नामक वन हैं। मेरु के पूर्व में अरुणोद, पश्चिम में शीतोद, उत्तर में मानस व दक्षिण में महाभद्र नामक सरोवर हैं। इनके चतुर्दिक शीतार्त, चक्र-मुंज, कुलीर, सुकंकवान, मणिशैल, वृषवान, महानीली, ताम्रक, बिन्दु, मन्दर, वेणु, तामस, निषध, देवशैल, त्रिकूट, शिखर, कलिंग, पतंगक, रुचक, विशाखवान, कैलाश, हिमवान, सुरक्ष, शिशिराक्ष, वैदूर्य, पिंजर, मेरु, विषकम्भकी, परियात्र, अंजन, शंखकूट, वृषभ, हंसनाभ, कपिलेन्द्र सानुमान, स्वर्णशृंगी, मयूर तथा जारुधि आदि पर्वत हैं। ये सभी पर्वता-चंल अति रमणीक, पावन, कर्मविपाक रहित, शुभ-कन्दरा युक्त, देव, किन्नर, यक्षादि का आवास स्थल हैं, अतः इस प्रदेश को भू-स्वर्ग कहा जाता है। यहां सदा वसन्त ऋतु रहती है। यहां के मानवों में किसी प्रकार का वैमनस्य नहीं है। इसी कारण मैंने इसे 'चतुष्पत्र पार्थिव पद्म' की संज्ञा दी है। इसके दक्षिण में स्थित भारतवर्ष ही कर्मभूमि है और इसके कर्मभूमि होने के कारण ही यहां के निवासी मानव अपने कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग, अपवर्ग तथा मानव, पशु, पक्षी आदि विभिन्न योनियों को प्राप्त करते हैं।

अपने विवरण को आगे बढ़ाते हुए मार्कण्डेय जी ने कहा— विप्र! अब मैं आपको त्रिपथगामिनी परम-पावनी गंगा देवी का वृत्तान्त सुनाता हूं। यह गंगा जगद्योनि (संसार के स्रष्टा) नारायण के ध्रुवधार पद से निकली है। यह चन्द्रमण्डल में अमृतरूप में प्रविष्ट होकर और उसकी रश्मियों से परम पावनी बन कर सुमेरु पर्वत पर निपतित होती है। वहां से यह चार धाराओं में बंट जाती है। इनमें से एक धारा पूर्व दिशा में प्रवाहित हुई है तथा चैत्ररथ वन की ओर गई है। यह सीता नाम से विख्यात है। यह चैत्ररथ से वरुणोद सरोवर में और फिर वहां से शीतान्त आदि पर्वतों को पार कर भद्राश्व वर्ष को प्लावित करती हुई सागर में मिल जाती है। दक्षिण दिशा को बहने वाली धारा गन्धमादन नामक पर्वत पर गिरती है, इसे अलकनन्दा कहते हैं। यह धारा मानसरोवर को प्लावित करती हुई हिमाद्रि में गिरी है, जहां शिवजी ने उसे अपने जटाजूट में रोक लिया। अन्त में महाराज भगीरथ के तप से प्रसन्न होकर उन्होंने उस धारा को मुक्त किया। महादेव जी से हटते ही यह धारा सप्त भागों में बहने लगी। इनमें में से तीन धाराएं पूर्व की ओर और एक धारा भगीरथ के रथ के पीछे बहती हुई समुद्र में समा गई है। पश्चिम की ओर से प्रवाहित होने वाली धारा सुचक्षु नाम से प्रसिद्ध है। यह वैभ्राज वन से होती हुई और शीतोद सरोवर को पावन करती हुई त्रिशिखर आदि पर्वतों को पार कर दक्षिण के समुद्र में गिरती है। उत्तर दिशा को बहने वाली धारा भद्र-सोमा नाम से जानी जाती है। यह मेरु पर्वत, सवितृवन, महाभद्र सरो-वर, शंखकूट और वृषभादि पर्वतों को तथा उत्तर-कुरुदेश को पावन करती हुई महासागर में मिल जाती है। हे द्विजश्रेष्ठ! वर्षों में से केवल भारत को ही मेघ जल की प्राप्ति होती है, अन्यों को नहीं। इसके अति-रिक्त पूर्व वर्णित आठों वर्षों में, वार्क्षी, स्वाभाविकी, देश्या, तोयोत्था, मानसी और कर्मजा छः प्रकार की सिद्धियां हैं। मनोवांछित फल प्रदायी वृक्ष से प्राप्त होने वाली सिद्धि वार्क्षी, स्वाभावोत्पन्न सिद्धि स्वाभा-विकी, किसी स्थान विशेष से उत्पन्न सिद्धि देश्या, सूक्ष्म जल से प्राप्त होने वाली तोयोत्था, ध्यान से प्राप्त होने वाली सिद्धि मानसी तथा उपासनादि से मिलने वाली सिद्धि कर्मजा कहलाती है। एक अन्य अन्तर यह है कि भारतवर्ष को छोड़कर शेष आठ वर्षों में युग-भेद से आदि-व्याधि तथा पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं व्यापता है।

क्रौष्टुकि बोले—भगवन्! आपने जो यह कहा है कि पाप-पुण्यादि का प्रभाव, मृत्यु-मोक्ष भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य वर्षों में नहीं है, सो

इस विषय में तनिक विस्तार से बतलाने की कृपा कीजियेगा। मार्कण्डेय जी ने कहा—हे द्विजश्रेष्ठ! इस भारतवर्ष के नौ भेद हैं। इन्द्रद्वीप कशेरु-मान्, ताम्रवर्ण, गभस्तिमान्, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व, वरुण व भारत। ये सभी द्वीप सागर से परिवृत्त और अगम्य हैं। भारत दक्षिण और उत्तर में हजार योजन विस्तृत है। इसके पूर्व में किरात, पश्चिम में यवनादि तथा मध्य में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि रहते हैं। ये सभी अपने-अपने सम्यक् व्यवहार, यज्ञ, अध्ययन, प्रजा-पालन, व्यापार तथा सेवा-वृत्ति आदि में निरत रहते है। इसी से वे पाप-पुण्य के फलस्वरूप भुक्ति-मुक्ति आदि के पात्र बनते हैं। इसके सात कुलपर्वत हैं और उन पर्वतों के चतुर्दिक अनगिनित अन्य पहाड़ हैं। महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमान, ऋक्ष, विन्ध्य और परियात्र नामक इसके सात कुल पर्वत हैं। अन्य पहाड़ों में वैभ्राज, मन्दर, दर्दुर, मैनाक, स्वरस, रोचन, पाण्डुर, अर्बुद, ऋष्यमूक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इनमें विभिन्न जनपद हैं जो म्लेच्छ और आर्य नाम से प्रसिद्ध हैं। इन जनपदों में गंगा, सरस्वती, सिन्धु, यमुना, चन्द्रभागा, वितस्ता, शतद्रु, गोमती, इरावती, पुण्यसलिला (गंगा), विपाशा, गण्डकी और कौशिकी आदि परम पावनी नदियां बहती हैं। ये नदियां हिमगिरि से उद्गत होती हैं। देव-स्मृति, वेदवती, वृत्रघ्नी, देवा, सान्दनी, वेत्रवती और शिवा आदि परियात्र पर्वत से निकलती हैं। शोणा, नर्मदा आदि सह्याद्रि से और मन्दाकिनी तथा दशार्णा नदियां चित्रकूट पर्वत से निकलती हैं। तमसा करमीदा, पिशाचिका, मंजुला, सुमेरुजा, शकुली आदि स्कन्दपाद पर्वत से, पयोष्णी, निर्विन्ध्या, तापी, वेणु, वैतरणी आदि विन्ध्यपाद से, गोदावरी, भीमरथा, कृष्णवेणी आदि भी इसी पर्वत से निकलती हैं। वंशकरा महेन्द्र पर्वत से, इक्षुका, ऋषिकुल्या, सोमकुल्या आदि मलयगिरि से तथा पलाशिनी और कुशा आदि नदियां शुक्तिमान पर्वत से निकलती हैं। ये सभी नदियां परम पावनी, फल-प्रदा-यिनी और वन्दनीय हैं। इनके अतिरिक्त भी इस क्षेत्र में कई छोटी-छोटी नदियां हैं। सहयाद्रि के उत्तर में, जहां गोदावरी नदी प्रवाहित होती है, महात्मा भार्गव की गोवर्धन नामक नगरी है। यह पृथ्वी का सर्वाधिक सुन्दर एवं पावन स्थल है तथा यहीं पर वाह्लीक वाटधान, आमीर, काल-तोयक, गान्धार, यवन, सिन्धु, सौवीर, मुद्रिका, लिंगपाद और केकय आदि राज्य भी हैं। यहां सभी वर्णों के लोग वास करते हैं। साथ ही काम्बोज, दरद, बर्बर, चीन, तुषार आदि के बहिर्देशज आत्रेय, भारद्वाज, पुष्कल, कशुरुक, लम्बाक आदि किरात जातियों में उत्पन्न लोग, तामस, कश्मीर

हंस-मार्ग, शूलिक, दर्द आदि उत्तरदेशी जन भी इसके आसपास रहते हैं। इसके पूर्व में मुदकर, प्रवंग, मानद, मानवर्तिक, प्राग्ज्योतिष, भद्र, विदेह, मगध तथा ताम्रलिप्त आदि प्रदेश हैं। दक्षिण में पाण्डव, केरल, चोल, कुन्तय और कुसुम आदि प्रदेश हैं जो दक्षिणात्य कहलाते हैं। पश्चिम में सूर्यारक, कलिबल, दुर्ग, रुपय, स्वापद, पुलिन्द तथा सुमिन आदि देश अवस्थित हैं। उत्तरवर्ती भीरुकच्छ, मोह्य, कश्मीर, सारस्वत आदि पाश्चात्य कहलाते हैं। सरज, करुष, उत्कल, दशार्ण, भोज्य, तुम्बरु, नैषध, पट्ट आदि विन्ध्याचल की पीठ पर स्थित हैं। नदीहारा, कुरु, खस, कुन्त, प्रावरण, कृत्रक, तामस, किरात आदि पार्वत देश कहलाते हैं। ऐसा यह भारतवर्ष तीन ओर से सागर से और उत्तर में हिमवान् से घिरा है। यह चारों युगों से सुशोभित होता है। यहां पर कर्म को असीम महत्ता है। यही कारण है कि देवगण भी इसमें जन्म ग्रहण करने को अति लालायित रहते हैं।

भारतवर्ष की महत्ता आदि का वर्णन सुन लेने के पश्चात् क्रौष्टुकि ने भारतवर्ष में कर्म रूप में बसने वाले हरि के विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर मार्कण्डेय जी ने प्रस्तुत वृत्तान्त उन्हें इस प्रकार से कह सुनाया। भगवान हरि कर्म रूप धारण करके इस नव खण्ड वाले भारतवर्ष की ओर मुंह किये पूर्व दिशा में वास करते है। उनके साथ ही समस्त तारागण और अन्यान्य विषय भी नव खण्डों में विभक्त हो कर उनके चतुर्दिक विद्यमान रहते हैं। इनके मध्य स्थल में विमाण्डव्य, वेद-मन्त्र, शाल्व, नील, शक, उज्जिहान, घोष, खस, मायुर, कापिंजल, वाह्य तथा कुरु आदि का वास है। इन्हें शुभाशुभ की सूचना देने वाले कृत्तिका, रोहिणी और मृगशिरा नक्षत्र हैं। उनके मुख में वृषध्वज-अंजन, जम्बु, शर्पकर्ण, व्याघ्रमुख, चन्द्रेश्वर, शिव तथा मैथिल आदि अवस्थित हैं। इनके साथ ही आर्द्रा, पुनर्वसु व पुष्य नक्षत्र भी वहीं हैं। उनके दाहिने पद में कलिंग, बंग, जठर, कोशल, भूषिक, चेदि, मत्स्य आदि हैं, जिनके नक्षत्र अश्लेषा, मघा और पूर्वा-फाल्गुनी हैं। लंका, कालाजिन, शैलिक, महेन्द्र, मलय, शंखसूक्ति, वैदूर्य, शैल, चर्मपट्ट, ऋषभ, सिंहल आदि दक्षिण कुक्षि में हैं। उत्तरा-फाल्गुनी, हस्त और चित्रा ये कूर्म के दक्षिण में हैं। काम्बोज, सागिग, बर्बर, किरात, द्राविड़, महार्णव आदि कूर्म के दक्षिण पद में हैं। स्वाति, विशाखा और अनुराधा इनके शुभाशुभ का निर्धारण करते हैं। मणि-मेघ, क्षराद्रि, कोंकण, पंचनद, वमन, अवर, तारक्षर, एकाक्षवाजिकेश तथा दीर्घ कंठधारी सभी कूर्म की पूंछ में वास करते हैं तथा ज्येष्ठा, मूल और पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र भी यहीं हैं। उत्तरा-

षाढ़ा,श्रवण और धनिष्ठा नक्षत्रों सहित धर्मबद्ध, उलूक, उरुकर्मी, जनघोरा और घुरल आदि भगवान् कर्म के बायें पद में बसे हैं। हिमालय, कैलाश, धनुष्मान्, वसुमान्, वाटधान, पुष्कल, अधम, तक्षशिला, मालव, भद्र, शातक, गन्धार, राजन्य, तथा घ्यामक आदि जनपद कूर्म भगवान् की वाम कुक्षि मेष से हैं, जिनके शुभाशुभ का बोध शतभिषा, पूर्वाभाद्रपद, और उत्तरभाद्रपद नक्षत्रों से होता है। पशुपाल, किन्नर, राज, कीचक अभिसारजन, त्वंगण सैरिष्ठ, पल्हव, लोलन, किरात, दार्वाद, खस, घोष, यवन, हिंग तथा गन्धर्व आदि देश रेवती, अश्विनी और भरणी नक्षत्रों सहित कूर्म के पूर्वोत्तर में स्थित हैं।

मार्कण्डेय जी बोले —हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! कथित जनपदों से सम्बन्धित ग्रहों व नक्षत्रों के अनुकूल होने पर सुख, सौभाग्य और श्री-शुभ की अभिवृद्धि तथा प्रतिकूल एवं वक्र होने पर दुःख, पीड़ा, कष्ट तथा अशुभ की प्राप्ति होती है। इसी प्रकार स्वर्ग से देवता अथवा दैत्यों के शत्रु के भूमि पर पतित होने से लोकापवाद का कष्ट होता है। इन सबके शमन तथा इन्हें दूर करने हेतु शान्ति से शुभाचरण तथा पावन अनुष्ठान करना चाहिए। जप, तप, दान आदि करते हुए वैर, घृणा, वैमनस्य, अहंकार आदि का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार मैंने आपको यह बतला दिया है कि भगवान् कूर्म किस प्रकार भारतवर्ष में बसते हैं। वे अचिन्त्यात्मा हैं तथा उन्हीं में देवनक्षत्रादियों के स्वामी रहते हैं। उनके मध्य में चन्द्र, अग्नि और रवि, मेषादि तीन राशियां उनके मध्यस्थल में, मिथुनादि दो राशियां कुक्षि में, कर्कट और सिंह राशियां पूर्व-दक्षिण चरण में, कन्या और तुला राशियां कुक्षि में, वृश्चिक राशि दक्षिण-पश्चिम पद में और धनु राशि पृष्ठ भाग में अवस्थित हैं। मकरादि राशियां वायव्य चरण में तथा कुम्भ और मीन आदि राशियां उत्तर कुक्षि में अवस्थित हैं। इस प्रकार इस कूर्म में देश, देश में नक्षत्र, नक्षत्र में ग्रह और ग्रह में राशि स्थित हैं। अतः ग्रह-नक्षत्रादि की पीड़ा, देशपीड़ा कही जाती है। इसके शान्ति हेतु स्नान करके दान, होम आदि करना चाहिए। इस प्रकार भगवान कूर्म से शोभित यह भारतवर्ष अति महिमामय है और यहां के निवासी सतयुग, त्रेता, द्वापर युग और कलियुग में युग-प्रभाव से क्रमशः चार सौ, तीन सौ, दो सौ और एक सौ वर्ष की आयु का लाभ करते हैं।

भारतवर्ष का परिचय देने के उपरान्त भद्राश्व वर्ष का वर्णन करते हुए मार्कण्डेय जी बोले—हे विप्रश्रेष्ठ! भारतवर्ष के पूर्व में देवकूट महापर्वत स्थित है जिसके पूर्व में भद्राश्व वर्ष है। इस वर्ष के कुल पर्वतों

के नाम श्वेतपर्ण, नील, शैवाल, क्रौंच व पर्ण शालाग्र हैं। इसमें कुमुद, संकाश, सुमंगल आदि अनेक जनपद, विभिन्न लघु पर्वत तथा सीता, शंखावती, भद्रा तथा चक्रवती आदि अनेक न दियां विद्यमान हैं। यहां के निवासी समान रूप से सुरूपवान् कंचनशंखवर्णी काया से युक्त, विषाद-मोह आदि से रहित और सहस्त्र वर्ष तक जीवित रहने वाले होते हैं। यहां भगवान् चतुर्भुख जनार्दन हयग्रीव रूप में विद्यमान रहते हैं।

सुमेरु के पश्चिम में केतुमाल वर्ष है। यहां विशाल कम्बल, कृष्ण, जयन्त, हरिपर्वत, विशोक और वैदूर्य नामक कुल पर्वत, अनेक अन्य पर्वत, वक्षु, श्यामा, कम्बला, अमोहया, कामिनी और सुमेधा नाम्नी सरितायें तथा अन्य सहायक नदियां विद्यमान हैं। यहां के निवासियों की आयु का मान हजार वर्ष है तथा भगवान् वराह रूप में यहां विद्यमान रहते हैं। यहां के निवासी शुभाशुभ से प्रभावित रहते हैं। उत्तर में कुरुदेश है, यहां देवलोक से पतित होने पर जन्म मिलता है। यहां वस्त्र, आभरण तथा मधुरफल आदि उत्पन्न करने वाले वृक्ष हैं। यहां के निवासियों की आयु साढ़े चौदह हजार वर्ष होती है। यहां चन्द्रकान्त और सूर्यकान्त नामक दो श्रेष्ठ कुल पर्वत, भद्रसोमा नामक प्रधान नदी और अन्य अनेक पहाड़ तथा सरितायें हैं। इन नदियों में मधु, क्षीर आदि प्रवाहित होता है। यहां पर भगवान् मत्स्य रूप में विद्यमान रहते हैं। यहां भद्रद्वीप व चन्द्र-द्वीप नामक दो प्रसिद्ध द्वीप भी हैं। यहां नौ नक्षत्र तीन-तीन के क्रम से सदा विद्यमान रहते हैं।

भारतवर्ष, भद्राश्ववर्ष तथा केतुमाल वर्षों का परिचय देने के उपरान्त किम्पुरुषवर्ष का परिचय देते हुए मार्कण्डेय जी बोले—ऋषे! किम्पुरुष नामक वर्ष भी बड़ा महिमामण्डित है। वहां के निवासी शरीरी होते हैं तथा दस हजार वर्ष तक जीवित रहते हैं। वे सदा सुखी, सानन्द, यौवनसम्पन्न तथा पद्म सुवास से सम्पन्न रहते हैं। वहां नन्दन वन के समान एक प्लक्षखण्ड है, जिसके वृक्षों का रस सुस्वादु और चिर-यौवन-दायी है।

किम्पुरुष वर्ष के इस संक्षिप्त परिचय के उपरान्त हरिवर्ष की चर्चा करते हुए मार्कण्डेय जी बोले—किम्पुरुषवर्ष के पीछे हरिवर्ष है। यहां जन्मने वाले प्राणी श्रेष्ठ इक्षुरस का पान करते और अजर (बुढ़ापे से रहित) रहते हैं। इलावृतवर्ष के निवासियों की भी यही अवस्था है। वहां सूर्य का ताप नहीं होता, नक्षत्रादि का प्रकाश भी वहां व्यर्थ है क्योंकि वहां मेरु पर्वत की दिव्य आभा व्याप्त रहती है और इसी कारण उसे

मेरुवर्ष भी कहा जाता है। मेरुवर्ष वासी कमलानन तथा कमलनयन हैं। जम्बुरसपायी होने से वे तेरह सहस्त्र वर्षों तक जीवनयापन करने वाले होते हैं। रम्यक वर्ष के निवासी न्यग्रोध नामक वृक्ष का रस पान करने वाले, चिरयुवा तथा कामक्रीड़ा में निपुण होते हैं। उसके उत्तर में हिरण्यमय वर्ष है। वहां अनेक कंचन कमलों से युक्त हिरण्यवती नदी है। वहां के निवासी प्रियदर्शी, अति बलशाली, महाकाय, सद्गुणसम्पन्न और अत्यन्त तेजस्वी होते हैं।

क्रौष्टुकि द्विज ने मार्कण्डेय जी से कहा—प्रभो! आपने अब तक की मेरी जिज्ञासाओं का पूर्ण समाधान करके मुझ पर बड़ी कृपा की है किन्तु भगवन्! अब मेरे मन में स्वायम्भुव नामक मन्वन्तर के पश्चात् होने वाले मन्वन्तरों के विषय में जानने की प्रबल इच्छा जाग्रत हुई है। आप कृपापूर्वक इस सम्बन्ध में भी कुछ बतलाने का कष्ट करें। मार्कण्डय जी बोले—महर्षे! आप सचमुच परम भागवत हैं, अध्यात्म चर्चा में आपकी रुचि और श्रद्धा को देखकर मुझे विश्वास हो चला है कि आप पर श्रीनारायण देव की अपार कृपा है। अब मैं आपकी इच्छानुसार आपको मन्वन्तरों की कथा सुनाता हूं, आप श्रद्धापूर्वक दत्तावधान होकर श्रवण करें।

स्वायम्भुव मन्वन्तर के पश्चात् स्वारोचिष नामक मन्वन्तर हुआ। उस समय वरुण नदी के तट पर बसे अरुणास्पद नामक नगर में एक द्विज (ब्राह्मण) रहता था। वह वेदज्ञ, शास्त्रपाठी, धर्मनिष्ठ, कर्मरत तथा पवित्र विचारों से परिपूर्ण तथा अतिथि सत्कार में अति रुचि रखने वाला था। वह ब्राह्मण सम्पूर्ण पृथ्वी-मण्डल के स्त्री-पुरुषों का तो कहना ही क्या यहां तक कि वह दोनों अश्विनीकुमारों से भी कहीं अधिक रूपवान और मनोमुग्धकारी था। एक दिवस एक अतिथि उसके घर पहुंचा। अरुणास्पदी ने उसका यथाविधि स्वागत-सत्कार करके उससे देश-देशान्तरों के रमणीक और रोचक वृत्तान्त सुने तो उसके विस्मय का पारावार न रहा। उसने अतिथि से पूछा—महाराज! आप तो अधिक वय के ज्ञात नहीं होते हैं। फिर आपने किस प्रकार इतना भ्रमण कर लिया है और वह भी बिना क्लान्ति और श्रान्ति के? इस पर उस उदारमना अतिथि ने कहा—बन्धुवर! मैं अपने चरणों में एक अद्भुत लेप लगा लेता हूं जिससे मैं सहस्त्रों योजन शीघ्र ही चला जाता हूं और मुझे किसी प्रकार की परिश्रान्ति नहीं होती। मैं यही लेप आपके चरणों में भी लगा देता हूं। यह कह कर उसने वह लेप उस ब्राह्मण के चरणों में लीप दिया। इससे प्रमुदित होकर उस ब्राह्मण ने हिमगिरि की ओर प्रस्थान किया और वहां

के अनिन्द्य सौन्दर्य को देखकर मंत्रमुग्ध हो गया, किन्तु शीतल हिमराशि के स्पर्श से उसके चरणों का वह अद्‌भुत लेप धुल गया और फलतः उसकी गति रुद्ध हो गई। कुछ काल तक तो वह उस महान् शैलराट् की भव्यता को, वहां विद्यमान पक्षियों के कल-कूजन को तथा पाषाणों से प्रवाहित होती नदियों के अतीन्द्रि आनन्द का अनुभव करता रहा, किन्तु ज्यों ही उसे घर वापिस न आ सकने और नैमित्तिक कर्म न कर पाने की अपनी असमर्थता का आभास हुआ त्यों ही वह क्षुब्ध और चिन्तित हो गया। जब वह इस प्रकार व्याकुल होकर इधर-उधर भटक रहा था तभी एक अप्सरा ने उसे देख लिया। वरुथिनी नामक वह दिव्यांगना उसके रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर काम-विह्वल हो गई और सोचने लगी कि यदि यह सुन्दर कुमार मेरा प्रणय स्वीकार करके मुझे अपना ले तो निश्चय ही मेरा जन्म सफल हो जाए। मैं इसे अपने पूर्वजन्म के सुफल का परिणाम ही स्वीकारूंगी। यह विचार कर वह उस द्विज के निकट पहुंच कर नाना प्रकार से अपने अंगादि का प्रदर्शन करने लगी। उस एकान्त स्थली में एक परम सुन्दरी को देखकर, आशा से पूर्ण होकर, वह अरुणास्पदी उसके निकट पहुंचा और उसका परिचय पूछने लगा। वरुथिनी ने कहा—मैं वरुथिनी नामक देवांगना हूं, इस क्षेत्र में विचारण करते हुए आपके अतुल सौन्दर्य को देखकर आप पर मुग्ध हो गई हूं तथा आपके साथ आनन्द भोग करने की इच्छा एवं प्रीति से काम-विह्वल हो रही हूं। द्विज ने कहा—सुन्दरी! तुम्हारा यह प्रस्ताव अनुचित है। मैं ब्राह्मण हूं और नैमित्तिक कर्म न कर पाने के दुःख से व्याकुल हूं। यदि वास्तव में तुम मुझसे प्रीति करती हो तो मुझे यथाशीघ्र अपने घर पहुचाने का उपाय बतलाओ। यह सुन कर अप्सरा ने कहा—आप अपने घर भी पहुंच जाओगे, किन्तु इससे पूर्व कुछ काल मेरे साथ रह कर आपको अपूर्व आनन्द का भोग करना चाहिए। मैं दुःखी और व्याकुल हूं, मेरे दुःख को दूर कर आप परम पुण्य के भोगी बनें। इतना कहते-कहते वरुथिनी उस ब्राह्मणकुमार के शरीर से लिपट गई। उसे दुत्कारते हुए उस धर्मनिष्ठ द्विज ने कहा—देवि! मेरे अंग का स्पर्श मत करो। मेरे गुरु ने मुझसे कहा है कि परनारी के प्रति कुदृष्टि नहीं रखनी चाहिए। ब्राह्मण का परम धर्म है नैमित्तिक कर्म करना। वही उसके इस लोक व परलोक का साथी है। तुम मुझे पथभ्रष्ट करने का प्रयत्न मत करो। उस समय ब्राह्मण ने गार्हपत्य अग्नि का स्मरण किया और स्तुति करते हुए कहा—हे गार्हपत्य! तुम्हीं सब कर्मों के बीजरूप हो। तुम्हीं से आवहनीय दक्षिण अग्नि उत्पन्न है, तुममें यह विश्व प्रतिष्ठित

है। जिस सत्य से यह सब तुममें स्थित है उसी सत्य से आप मुझे अपने घर पहुंचने की शक्ति प्रदान कीजिये, जिससे मैं अपने नैमित्तिक कर्म पूर्ण कर सकूं। जिस सत्य ने आज तक मेरी मति को भ्रष्ट होने से तथा पर-दारा और परद्रव्य के प्रति आसक्ति से मुझे बचाया है, वही आज भी मेरी रक्षा करे।

इस प्रकार गार्हपत्य अग्नि का ध्यान-आह्वान करने से अग्निदेव उसके शरीर में विद्यमान हो गये। उनके प्रताप से उसका रूप तेज से उद्दीप्त हो गया। वह अप्सरा ब्राह्मण के इस रूप को देखकर और भी अधिक मुग्ध हो गई किन्तु ब्राह्मणकुमार ने उसकी कोई चिन्ता नहीं की और शक्ति-लाभ होने से वह द्रुत गति से अपने घर की ओर चल पड़ा। वह शीघ्र ही उसकी आंखों से ओझल हो गया। अब वरुथिनी उसके वियोग में तड़पने और विलाप करने लगी। इसी मध्य कलि नामक एक गन्धर्व ने उसे विलाप करते सुना। उसने अपनी शक्ति से उसके विलाप करने के कारणों को भी जान लिया। एक समय वरुथिनी ने उसके प्रणय को अस्वीकार कर उसका अपमान किया था। इस अवसर का लाभ उठाने के विचार से उसने उस ब्राह्मण का रूप धारण किया और उस विरह-विधुरा के निकट ही विचरण करने लगा। वरुथिनी ने विह्वल होकर कहा—मेरे साथ इन गिरि कन्दराओं में सम्भोग कर तुम मेरी प्राण रक्षा करने के महान पुण्य का लाभ करो।

छद्मवेशी कलि ने उसकी दशा से द्रवित होने का अभिनय करते हुए कहा—यहां साधनों के अभाव में मेरी जीवनचर्या और कर्म भ्रष्ट हो रहे हैं। अतः हे सुन्दरि ! यदि तुम मेरे साथ सम्पर्क करते समय अपने नेत्र बन्द रखने का वचन दो तो मैं तुम्हारा निवेदन स्वीकार कर सकता हूं। काम-विह्वल उस सुन्दरी ने उस ब्राह्मण वेशधारी गन्धर्व की बात मान ली। अब वे आनन्दपूर्वक पर्वतांचलों और गिरिकाननों में विचरण करने लगे। सम्भोगकाल में वरुथिनी तपोनिष्ठ व अग्नि तेज से दमकते ब्राह्मण के रूप का ही ध्यान करती रहती थी। इस प्रकार उनके दिन सुखोपभोग में व्यतीत हो रहे थे। कालान्तर में उस गन्धर्व के वीर्य से तेजस्वी वरुथिनी को एक अग्निवत् तेजस्वी दिव्य पुत्र की प्राप्ति हुई। अपने शरीर से फूट पड़ने वाली आभारश्मियों के कारण उसका नाम स्वरोचि पड़ा। वह दिन-प्रतिदिन बढ़ता रहा और उसने यथासमय वेद-वेदांग के साथ शस्त्रास्त्र का भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया। एक दिन वह वन में विचरण कर रहा था कि तभी एक भयाक्रान्त सुन्दरी 'बचाओ-बचाओ' कहती हुई

उसके निकट आ गई। स्वरोचि ने उसे अभयदान दिया और उसके विषय में जानने की इच्छा प्रकट की। इस पर वह सुन्दरी बोली—मेरा नाम मनोरमा है। मैं गन्धर्व मरुधन्वा की पुत्री हूं। पर्वतांचलीय वन-खण्डों में अपनी सखियों—विभावरी (मन्दार विद्याधर की पुत्री) और कलावती (पारमुनि की कन्या) के साथ विचरण करते हुए मैंने एक क्षीणकाय तपोरत व्यक्ति को देखा, उसका रूप ऐसा जर्जर और शरीर इस प्रकार अस्थि-पंजर मात्र रह गया था कि मेरी हंसी रुक न सकी। इस पर रुष्ट होकर उसने मुझे शाप दे दिया कि तू किसी दानव से सतायी जाएगी। इस पर मेरी सखियों ने उसके तप की व्यर्थता और उसकी असहिष्णुता के लिए उसकी भर्त्सना की तो उसने उन्हें भी कुष्टपीड़ित होने का शाप दे दिया। ऋषि का शाप तत्क्षण फलित हुआ। हे महाभाग! उसी क्षण से एक दानव मेरा पीछा कर रहा है। क्या आपको उसका गर्जन सुनाई नहीं पड़ता? लीजिये, इस महाप्रभावी अस्त्र को धारण कीजिये। यह दिव्य अस्त्र भगवान् शिव से स्वायंभुव मनु को, उनसे वसिष्ठ को, वसिष्ठ से मेरे नाना को और उनसे विवाहोपहार के रूप में मेरे पिता को मिला था। आप इससे इस राक्षस का वध करके मेरी रक्षा कीजिए। इस समय तक वह राक्षस निकट आ पहुंचा और उसने उस सुन्दरी को पकड़ लिया। इस प्रकार तपस्वी का शाप सफल हो गया किन्तु तभी स्वरोचि ने धनुष पर बाण चढ़ाया और शरसंधान से पूर्व उस निशाचर को आग्नेय नेत्रों से घूरा। तत्क्षण ही उसने सुन्दरी को छोड़ दिया और विनयपूर्वक बोला—हे महाबली! क्रोध तजकर प्रसन्न होइये। मैं शाप-ग्रस्त हूं और यह कन्या भी शाप-ग्रस्त है। मेरे पिता का नाम खडिग-ललाम है तथा मैं इन्दीवर नाम से जाना जाता हूं। परम ज्ञानी आयुर्वेद के आचार्य महामुनि ब्रह्मामित्र से गुप्त रूप में आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करने और ऋषि द्वारा मेरे छल की बात जान लिये जाने पर मैं उनके शाप से राक्षस बना हूं तथा उसी शाप के वशीभूत होकर अपनी ही कन्या को भक्षण करने का प्रयत्न कर रहा हूं। इस समय आपकी दृष्टि के प्रभाव से मुझे पुनः विद्याधर का रूप प्राप्त हुआ है। मैं इस कृतज्ञता को ज्ञापित करते हुए अपनी इस कन्या को आप को समर्पित करता हूं। साथ ही आयुर्वेद का सम्पूर्ण ज्ञान भी आपको देता हूं। आप इसे अंगीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिये। पिता के वचन सुनकर मनोरमा ने कहा—जब तक मेरी सखियां शापवश रोग से ग्रस्त हैं, मैं इस सुखभोग की कल्पना तक नहीं कर सकती। स्वरोचि ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा—मैं तुम्हारे पिता से प्राप्त आयुर्वेद के ज्ञान से उनका

उपचार कर दूंगा। इस प्रकार मनोरमा को आश्वस्त करके स्वरोचि ने उससे विवाह कर लिया और विद्याधर के स्वलोक गमन करने के उपरान्त वे दोनों उस स्थान पर गये, जहां विभावरी व कलावती शाप का ताप भोग रही थीं। स्वरोचि ने उनका उपचार किया और तब उनके दिव्य शरीर की कंचन आभा से सम्पूर्ण मन्दर पर्वत आलोक-मण्डित हो गया।

विभावरी ने आत्मपरिचय देते हुए स्वयं को स्वरोचि के चरणों में समर्पित कर दिया और साथ ही समस्त प्राणियों की वाणी समझने की विद्या भी उन्हें सिखा दी। इसी प्रकार कलावती ने भी अपना परिचय देते हुए कहा कि—वह पारमुनि के वीर्य से पुंजिकस्थला अप्सरा के उदर से उत्पन्न हुई है। उसने कहा—पारमुनि से गर्भ धारण कर मेरी मां ने मुझे इसी वनस्थली में जन्म दिया। उसके उपरान्त इसी वन में ही मुझे छोड़कर वह अपने लोक को चली गई। तबएक परोपकारी महात्मा गन्धर्व ने मेरा पालन-पोषण किया। मुझे शुक्लपक्ष में बढ़ता व कृष्णपक्ष में अक्षयमुखी देखकर उसने मेरा नाम 'कलावती' रखा। कालान्तर में अलि नाम के किसी राक्षस ने मुझे प्राप्त करना चाहा किन्तु मेरे गन्धर्व पिता ने उसकी प्रार्थना ठुकरा दी। इस पर उस दुष्टात्मा ने उनकी हत्या कर दी। मैं खिन्नमना आत्महत्या करने को उद्यत हुई तो सती माता ने मुझे ऐसा करने से रोका और विद्या दान करते हुए कहा—तेरा विवाह स्वरोचि से होगा और उस स्वरोचि के पुत्र का नाम मनु होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि आप ही वे महापुरुष हैं, अतः आप मुझे और मेरी विद्याओं को अंगीकारकीजिये। स्वरोचि ने उससे भी सविधि पाणिग्रहण संस्कार सम्पन्न किया।

तदुपरान्त स्वरोचि अपनी उन तीनों भार्याओं सहित उस पर्वत के सुरम्य स्थलों में विहार करने लगा। पद्मिनी आदि विद्याओं के बल से उसे वहां के सभी सुखोविलास उपलब्ध थे। उसे इस प्रकार तीन-तीन पत्नियों के साथ सुखपूर्वक भोग-विलास करते देख निकटवर्ती सरोवर में रह रही एक कलहंसी ने अपनी सखी चक्रवाकी से कहा—हे सखि ! यह स्वरोचि और इसकी तीनों पत्नियां धन्य हैं। इस सृष्टि में कुछ ऐसे पति होते हैं जो स्वयं सुन्दर होते हैं, परन्तु उनकी पत्नियां असुन्दर होती हैं। इसी प्रकार इसकी विलोम स्थिति भी हो सकती है अर्थात् पत्नी सुन्दर हो और पति असुन्दर हो किन्तु दोनों का समहोना अर्थात् समान रूप से सुन्दर और अनुरागी होना दुर्लभ है। इस रूप में यह स्वरोचि निश्चय ही

धन्य है।

चक्रवाकी ने किंचित् भी विस्मय प्रदर्शन न करते हुए कहा—यह कथन मिथ्या है। स्वरोचि सुखी और धन्य नहीं है। अनेक पत्नियों के साथ विहार करने के कारण वह सबके प्रति समभाव नहीं रख पाता। हे सुभाषिणी ! वह निर्लज्ज है तथा सभी पत्नियां भी उसे समान भाव से प्रेम नहीं कर पाती हैं। वास्तव में विद्या के लोभमें पड़कर स्वरोचि ने एकाधिक स्त्रियों को भार्या बनाया है। यह उसका दुर्भाग्य है, अतः वह धन्य नहीं है।

स्वरोचिने अपने विद्याबलसे इस वार्त्ता को सुना तो वह बहुत लज्जित हुआ, किन्तु उसने इसे भुला दिया। इस प्रकार अपनी तीनों भार्याओं के साथविहार तथा भोग-विलासकरते हुए उसने सौ वर्ष व्यतीतकर दिये। तब एक दिन उसने अनेक मृगियों से घिरे और उनके द्वारा अपनी त्वचा को सींगों से खुजलाते एक यूथपति मृग को अपनी पत्नियों से यह कहते हुए सुना—तुम सब निर्लज्ज हो, मैं स्वरोचि नहीं हूं, जो ऐसे आचरण को सहन करूं। तुम सब या तो अन्यत्र चली जाओ या स्वरोचि के पास रहो। वही एक भार्या से अधिक के संगलाभ की कामना करता है।

मृग की इस कटु-उक्ति की सुनकरस्वरोचि का मन डगमगा गया और उसने वैराग्य लेने का निश्चय किया किन्तु तीनों पत्नियों के संयुक्त विरोध एवं अनुनय-विनय के सामने उसका वैराग्य भाव मन्द पड़ गया और वह पुनः सुखविलास में डूब गया। इस प्रकार ६०० वर्ष व्यतीत हो गए और उसे अपनी तीनों भार्याओं से एक-एक तेजस्वी, योग्य तथा बलशाली पुत्रों की प्राप्ति हुई। उनके नाम इस प्रकार हैं—मनोरमा का पुत्र विजय, विभावरी का मेरुनन्दन और कलावती का प्रभाव। अपनी विद्या से स्वरोचि ने उनके लिए पूर्व दिशा में विजयपुर की, उत्तर में नन्दनवती की और दक्षिण पथ में तालपुर की स्थापना करके उन्हें क्रमशः एक-एक प्रदेश का राजा बना दिया।

एक बार मृगया करते हुए स्वरोचि ज्यों ही एक वन्य शूकर पर शर-सन्धान करने को तत्पर हुआ कि त्यों ही एक मृगी उसके निकट आ कर उससे शर-प्रहार से निज प्राणों को अपहृत करने का निवेदन करने लगी। स्वरोचि द्वारा कारण पूछने पर वह बोली—मैं जिसे चाहती हूं वह अन्य की प्रीति से बद्ध है, अतः मेरा मर जाना ही उचित है। इस पर स्वरोचि ने पूछा कि तुम किसके प्रणय से बद्ध हो ? मृगी ने कहा—मैं आपसे ही प्रीति करती हूं। विस्मित भाव से स्वरोचि बोले—तुम

मृगी हो और मैं मानव, फिर हमारी प्रीति कैसी ? तब मृगी ने निवेदन किया तुम मेरे शरीर का आलिंगन करो। स्वरोचि द्वारा ऐसा करते ही वह एक सुन्दरी में बदल गई। तब उसने बतलाया कि मैं इस वन की अधिष्ठात्री देवी हूं और देवताओं के अनुरोध से ही आपके पास आई हूं। आप मुझसे मनु की उत्पत्ति करें। स्वरोचि ने उसकी विनय स्वीकार की और उसके उदर से एक परम वीर एवं तेजस्वी शिशु को जन्म दिया, जिसका गुणानुरूप द्युतिमान् नाम रक्खा गया और कालान्तर में यह स्वरोचि मनु कहलाया।

इस प्रकार एक दिन विहार करते हुए स्वरोचि ने एक हंस को हंसी से कहते हुए सुना—हे सुमुखि ! अब मैं वृद्ध हो गया हूं, अतः तुम्हारे साथ भोग-विलास करना छोड़कर संन्यास ग्रहण करता हूं। इस पर हंसी बोली—नाथ ! भोग-विलास के निमित्त आयु का बन्धन नहीं होता। ब्राह्मण आदि भी तो इसी के लिए यज्ञ-होमादि करते हैं तो फिर हम पक्षियों के हेतु यह सोचना उपयुक्त नहीं कि हमारा भोग का समय अब नहीं रहा। हंसिनी का यह तर्क सुनकर ज्ञानी हंस बोला—मैं स्त्री के बहकावे में आने वाला नहीं। विषयों की आसक्ति प्राणी के लिए कीचड़ के समान है। उसमें लोटते रहने से उसकी सुगति नहीं होती। देखो ! यौवनावस्था से आज तक विषय-वासना में लिप्त स्वरोचि का उद्धार होना कठिन है। वह तो अभी तक पत्नियों, पुत्रों, पोतों के ही मोहजाल में फंसा है। जलचरों के इस वार्त्तालाप को सुनकर स्वरोचि के ज्ञान-चक्षु खुल गए और वह अपनी भार्याओं सहित जंगल में तपस्या करने लगा। तब अपने पापों से मुक्त होकर वह पत्नियों सहित विमल लोक को चले गए।

स्वरोचि के दिवंगत होने पर स्वारोचिष मनु बने। उस मन्वन्तर में देवगण पारावत और तुषित नाम से, इन्द्र विप्रश्चित्त नाम से तथा सप्तर्षि दत्तोलि नाम से प्रसिद्ध हुए। मनु के सात परम प्रतापी व वीर्यवान पुत्र हुए।

क्रौष्टुकी ने परम सन्तोषपूर्वक कहा—भगवन् ! आपने कृपापूर्वक मन्वन्तर की कथा विस्तार से कही है। अब आप पद्मिनी आदि विद्याओं के विषय में मुझे बतलाने का कष्ट कीजिएगा।

महर्षि मार्कण्डेय बोले—पद्मिनी नामक विद्या की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी है, जो आठ प्रकार की निधियों का आधार है। ये आठ निधियां

—पद्म, महापद्म, कच्छप, मकर, नील, नन्दक, मुकुन्द और शंख हैं। पद्म निधि मयदानव और उसके पुत्रों के पास दीर्घकाल तक रही। यह सतोगुणी है, अतः इसे धारण करने वाला धनसम्पन्न, कुशल कलाकार, महाभोगी, स्वर्णादि का व्यापारी, याज्ञिक तथा दानी होता है। वह देवालय सभागृह आदि बनवाने में लगा रहता है। महापद्म निधि सत्वाधार कही जाती है। इससे रत्नादि की प्राप्ति होती है। यह योग वृत्ति का भी पोषण करती है। इससे सन्तान शीलवान्, सच्चरित्र और योग्य बनती है। मकर निधि तामसी है। इससे धन, पद, मान-मर्यादा की कामना में वृद्धि होती है, शस्त्रास्त्र के व्यापार की इच्छा होती है। यह निधि तामसी है, मानव को तमोगुणी बनाती है। इसकी दृष्टि पड़ने पर व्यक्ति कच्छप स्वभाव का हो जाता है और वह गुप्त रूप से कार्य करता, लोगों से भयभीत रहता तथा धन को न तो स्वयं भोगता है दूसरों को ही स्वजित भोगने देता है। मुकुन्द निधि का प्रभाव रजोगुणी है, ऐसे व्यक्ति की लास्य, वाद्य आदि में अधिक रुचि होती है। उसकी संगति भी अच्छे लोगों से नहीं होती। इससे उसका कल्याण नहीं होता है। नन्दक निधि रज और तमोगुण से युक्त है। इसकी कृपा से जन जड़ता प्राप्त करता, स्वजनों और आत्मप्रशंसा से मुग्ध होता तथा तनिक अपमान से व्याकुल तथा क्रुद्ध होता है। मानोवांछित दानदाता व अनेक पुत्रवती स्त्रियों की कामना से युक्त रहता है। इस निधि का प्रभाव सात पीढ़ी तक बना रहता है। किन्तु परलोक के प्रति यह निधि उदासीन ही बनाती है। नील निधि के भी यही गुण हैं। इसकी कृपादृष्टि से मनुष्य भोगी, सरोवर, उपवन आदि बनाने वाला तथा पेड़ लगाने वाला बनता है। वह यश-लाभ भी करता है। तीन पीढ़ीपर्यन्त इसका प्रभाव रहता है। शंख निधि भी रज व तुम गुणों से युक्त है। वह व्यक्ति को स्वार्थी बनाती है। वह 'स्व' की ही सोचता है। उसे अपने बन्धु-बान्धवों, सम्बन्धियों आदि की कोई चिन्ता नहीं होती।

ये सभी निधियां अलग-अलग अपना प्रभाव डालती हैं किन्तु मिश्रित फल देती हैं। इन सभी निधियों की स्वामिनी पद्मिनी विद्या है। इनका क्रम निम्न प्रकार से है।

प्रथम	पद्म निधि
द्वितीया	महापद्म
तृतीया	कच्छप

चतुर्थी	मकर
पंचमी	नील
षष्ठी	नन्दक
सप्तम	मुकुन्द
अष्टम	शंख

स्वारोचिष मन्वन्तर के विषय में जान लेने के उपरान्त क्रौष्टुकि ने अन्य मन्वन्तरों के विषय में जानने की इच्छा प्रकट करते हुए विनीत स्वर में कहा—प्रभो ! आपके मुखारविन्द से इस ज्ञानचर्चा को सुनकर मेरी उत्सुकता और बढ़ गई है। मेरा आपसे विनम्र निवेदन है कि आप मुझे अन्य मन्वन्तरों के विषय में बताने की कृपा करें। मार्कण्डेय जी ने पूर्ववत वर्णन करते हुए कहा—वत्स ! पुण्यकथा में आपकी रुचि देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है। मैं आपको अन्य मन्वन्तरों के सम्बन्ध में बताता हूं, आप श्रद्धापूर्वक श्रवण करें। महाराज उत्तानपाद की रानी सुरुचि के गर्भ से उत्तम नामक पुत्र का जन्म हुआ। वह प्रजावत्सल, योग-वृत्ति तथा सदाचार सम्पन्न बालक था, उसका विवाह बभ्रु तनया बहुला से हुआ। वह अपनी पत्नी को हृदय से चाहता था और स्वप्न में भी परनारी का ध्यान नहीं करता था, किन्तु उनकी पत्नी उसके प्रत्येक व्यवहार में अपना अपमान और अपनी उपेक्षा का अनुभव करती थी, अतः उसके द्वारा उपहार में दी गयी वस्तुओं, आभरण, वस्त्रादि की वह उपेक्षा कर देती थी उसके साथ खानपान में भी उसका मन नहीं लगता था। यह सब होने पर भी राजा उसके प्रति घृणा का अथवा उपेक्षा का भाव नहीं रखते थे। एक दिन दरबार में विशिष्ट उत्सव का आयोजन होने पर उपस्थित गण्य-मान्य अतिथियों के सामने ही राजा ने रानी को सुरापात्र भेंट किया, किन्तु रानी ने उसकी उपेक्षा करते हुए उसे अंगीकार नहीं किया। इस अपमान से क्षुब्ध होकर उस सौम्य राजा ने सर्प के समान फुंकारते हुए रानी को तत्काल घर से निष्कासित कर दिया। राजा ने अपने प्रहरी को आदेश दिया कि वह इस दुष्टा रानी को किसी सघन वन में ले जाकर छोड़ आए। राजा ने यह भी कहा कि इसके प्रति किसी दया-प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं है। राजाज्ञा का शीघ्र ही पालन हुआ। रानी के निष्कासित हो जाने पर भी राजा ने किसी अन्य नारी का न तो ध्यान किया और न ही किसी अन्य स्त्री से विवाह किया। वह एक सजग प्रहरी के समान मनोयोगपूर्वक अपनी प्रजा की सेवा में रत रहा।

एक दिन एक ब्राह्मण राजा के दरबार में आया और उसने राजा से निवेदन किया -- महाराज! विगत रात्रि को कपाट की अर्गला खोले बिना मेरे भवन से मेरी पत्नी का कोई अपहरण कर ले गया है। वह स्थूल काया, कर्कशा और असुन्दरी है, किन्तु मैं उसे प्राप्त करना चाहता हूं। आप प्रजा के पुण्य का षष्ठांश ग्रहण करके उसके कल्याण के लिए प्रहरी-वत् हैं। इसी कारण हम निश्चिन्त भाव से रात्रि को सोते हैं। आप मेरी पत्नी को प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिये। राजा ने कहा—मैंने तुम्हारी पत्नी को देखा तक नहीं है, फिर मैं उसे कहां और कैसे प्राप्त कर सकता हूं? तुम चाहो तो मैं तुम्हारे लिए सुशील और लक्ष्मी-स्वरूप अन्य पत्नी ला सकता हूं। ब्राह्मण बोला – नृपश्रेष्ठ! जिस प्रकार पति के दुश्चरित्र अथवा दुष्ट प्रकृति का होने पर भी पत्नी उसे सहन करती है और पति-व्रता बनी रहती है, उसी प्रकार पति को भी अपनी कर्कशा और कुरूपा पत्नी को त्यागना नहीं चाहिये, अतः मेरा आप से निवेदन है कि मेरी उसी पत्नी को ला दीजिये जिससे कि मैं यज्ञादि कर्म कर सकूँ। ब्राह्मण के इन वचनों को सुन कर राजा रथारूढ़ होकर उस ब्राह्मणी को ढूंढ़ने निकल पड़ा और एक सघन वन में पहुंचा, जहां एक ऋषि का सुरम्य आश्रम था। ऋषि ने राजा को देखते ही उसका स्वागत किया और अपने शिष्य से अर्घ्य लाने को कहा। शिष्य बोला—गुरुवर! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, किन्तु राजा को अर्घ्य देने से पूर्व भली-भांति विचार कर लीजिये। ऋषि ने अपनी शक्ति से सारा वृत्तान्त जानकर अर्घ्य का विचार त्याग दिया और राजा को बैठने के लिए आसन प्रदान किया। ऋषि ने कहा—राजन! मैं जानता हूं कि तुम उत्तानपाद के पुत्र उत्तम हो किन्तु तुम्हारा यहां आने का प्रयोजन क्या है? राजा ने किंचित् विस्मय के साथ कहा—महर्षे! मैं अपना प्रयोजन तो बतलाऊंगा ही किन्तु कृपा-पूर्वक मुझे यह बतलाइए कि प्रथम आपने मुझे अर्घ्यदान देने का निश्चय करके पुनः उस विचार का परित्याग क्यों कर दिया? ऋषि बोले—महाराज! अर्घ्य का पात्र वही गृहस्थ होते हैं, जिसके पत्नी और पुत्र हों। मेरे शिष्य ने इस मर्म को जान लिया था कि आप भार्या व पुत्ररहित हैं और उसके द्वारा संकेत दिए जाने पर मैंने भी इस तथ्य को जान लिया, अब आप यहां आने का अपना प्रयोजन कहिये। तब राजा ने सारा वृत्तान्त सुन कर महर्षि से कहा – प्रभो! आप सर्वज्ञ व त्रिकालदर्शी हैं, मुझे उस ब्राह्मणी के विषय में बतलाइए, जिससे कि मैं उसे प्राप्त कर अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर सकूं। ऋषि ने ध्यान लगाया और फिर बोले—

कि आदि पुत्र राक्षस बलाक ने ब्राह्मणी का अपहरण किया है और वह उसे उत्पलावत नामक वन में ले गया है। यदि आप उसे प्राप्त करना चाहें तो यथाशीघ्र गमन कीजिए। ऋषि को प्रणाम कर राजा उक्त वन की ओर चल पड़े और वहां जाकर उन्होंने देखा कि ब्राह्मण द्वारा बतलाये गये रूप-रंग वाली एक ब्राह्मणी श्रीफल का भोग लगा रही थी। राजा ने उससे उसका परिचय पूछा तो उस ब्राह्मणी ने कहा – मैं अतिरात्र द्विज की कन्या हूं ? नृपति ने प्रश्न किया – क्या तुम्हारे पति विशालपुत्र सुशर्मा हैं ? इस परम पराक्रमी नरेश के प्रश्न के उत्तर में ब्राह्मणी ने कहा—मैं वही हूं जो आप मुझे समझ रहे हैं। मैं नहीं जानती कि राक्षस मुझे यहां क्यों लाया है ? क्योंकि न तो वह मुझे भक्षण करता है और न ही मुझे भोगता है। राजा के पूछने पर ब्राह्मणी ने बताया कि अपहर्त्ता राक्षस इसी वन के अन्तर-भाग में विद्यमान है। राजा शीघ्र ही वनान्तर में प्रविष्ट हुआ और उसने देखा कि राक्षस अपनी पत्नी और परिजनों सहित वहां विद्यमान था। राजा को देखते ही वह खड़ा हो गया। उसने प्रणाम और अर्ध्यदानपूर्वक राजा का स्वागत-सत्कार किया और बोला—महाराज ! मैं आपके राज्य में रहता हूं, अत: आपकी प्रजा हूं। आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप ने किस प्रयोजन से यहां आने का कष्ट किया है ? राजा ने पूछा – तुम जिस ब्राह्मणी को अपहृत कर लाये हो, उसका क्या प्रयोजन है ?

महाराज ! मैं राक्षस हूं किन्तु मैं नरभक्षी नहीं हूं, अत: स्पष्ट है कि मैं उसे खाने के लिए नहीं लाया हूं। अप्सरातुल्य अनेक प्रियाओं और सुन्दरी भार्या के होते हुए उस सामान्या को भोगार्थ लाने में भी कोई औचित्य नहीं। वास्तव में मैं मानव के स्वभाव का भक्षण करता हूं। दुर्वृत्त तथा कपटी स्वभाव का भोग मुझे रुचिकर है। ब्राह्मण सुशर्मा वेदज्ञ है तथा होम-यज्ञ आदि से मेरे मन में उद्वेग उत्पन्न करता है, अत: उसे इन कर्मों से विरत करने हेतु ही मैंने उसकी भार्या का अपहरण कर लिया है। उसके अभाव में वह यज्ञादि नहीं कर सकेगा। राजा उसकी बात से बहुत प्रभावित हुआ और उसने राक्षस से कहा – तुम ब्राह्मणी को उसके घर पहुंचा दो तथा भविष्य में जब भी मैं स्मरण करूं, तुम मेरे सम्मुख उपस्थित हो जाना।

ब्राह्मणी को उसके पति के समीप पहुंचा देने के अपने कर्त्तव्य से मुक्त होकर राजा अति व्याकुल व पश्चात्ताप से दु:खी हो उठा। उसे लगा कि त्रिकालदर्शी ऋषि ने तथा उस राक्षस ने उसके पत्नी त्याग को अति

हेय कर्म सिद्ध कर दिया है, अतः उसे इसका निराकरण अति आवश्यक ज्ञात हुआ और वह रथारूढ़ होकर शीघ्र ही त्रिकालदर्शी ऋषि के आश्रम में पुनः जा पहुंचा। राजा ने ऋषि से अपनी समस्या कही। ऋषि ने कहा—राजन् ! पत्नी का त्याग किसी भी स्थिति में उचित नहीं कहा जा सकता। यदि पत्नी पति का त्याग करने की अधिकारिणी नहीं है तो पति को भी यह अधिकार प्राप्त नहीं है। आपने अपनी भार्या का त्याग करके ठीक नहीं किया है। पत्नी धर्म, अर्थ और काम का आधार है अतः उसे त्यागने का अर्थ धर्म का त्याग है। आपकी पत्नी अभी जीवित है तथा कपोतक नाम के नागराज द्वारा पाताल लोक में ले जाई गई है। नागराज की पत्नी मनोरमा और पुत्री नन्दा है। नन्दा ने यह जानकर कि नागराज तुम्हारी पत्नी को उसकी मां की सौत बनाना चाहते हैं, उसे अपने पास छिपा रखा है और जब कभी नागराज उसके विषय में पूछता है तो वह मौन धारण कर लेती है। इससे रुष्ट होकर उसने अपनी पुत्री को गूंगी होने का शाप दिया है। नन्दा के प्रयत्नों से ही आपकी पत्नी अब तक सतीत्व को सुरक्षित किए हुए है। आप उसे वापिस लाने का प्रबन्ध कीजिए।

राजा ने पुनः कहा—ऋषिश्रेष्ठ ! कृपापूर्वक यह भी बतलाइये कि मेरे द्वारा अत्यधिक प्रीति दर्शाने पर भी मेरी पत्नी मेरे प्रति इतनी असहिष्णु क्यों रही है ? जबकि अन्य सभी जीव मुझे प्राणों से भी अधिक चाहते हैं। ऋषि बोले – इसका कारण विवाह के समय आपके ग्रहों का मेल न खाना है। विवाह काल में आपके रवि, मंगल, शनि, और बुध ग्रह प्रबल थे जबकि आपकी पत्नी बृहस्पति, शुक्र और चन्द्र के प्रभाव में थी। यही उसके व्यवहार की कर्कशता का कारण है।

राजा उत्तम यह सब जान लेने के उपरान्त ऋषि को प्रणाम कर अपनी नगरी में लौट आया और ब्राह्मण के पास पहुंचा तो देखा कि वह अपनी पत्नी को प्राप्त कर प्रसन्नचित्त अपने कर्मों में रत था। ब्राह्मण ने राजा के प्रति अति कृतज्ञता प्रकट की तो राजा ने कहा—विप्र! तुम तो भार्या को पाकर प्रसन्न हो किन्तु मेरा दुःख कैसे दूर होगा ? यह कहते हुए राजा ने सम्पूर्ण वृत्तान्त ब्राह्मण को भी सुना दिया। ब्राह्मण ने कहा--आपने पत्नी त्याग का पाप किया है। अब क्या हो सकता है? यदि वह मृत्यु को प्राप्त हुई हो तो मैं आपका दूसरा विवाह करा सकता हूं और यदि जीवित है तो उसे आपके अनुकूल बनाने के लिए मित्रविद्ध यज्ञ कर सकता हूं। राजा ने कहा वह अभी जीवित है, आप यज्ञानुष्ठान कीजिए।

तब नृपति ने यज्ञ की सम्पूर्ण सामग्री प्रस्तुत की और ब्राह्मण ने कई बार उक्त यज्ञ की आवृत्ति की। तदुपरान्त नृपति से कहा—आप अपनी पत्नी को पाताल-लोक से बुलाने की व्यवस्था कीजिए।

राजा ने महाबली राक्षस का स्मरण किया और उसके उपस्थित होते ही उस को पाताल-लोक से रानी को ले आने का आदेश दिया। राक्षस रानी को ले आया तो वह पति को देखकर अति प्रसन्न हुई, किन्तु उसने उनसे निवेदन किया कि मेरे कारण गूंगेपन का शाप भोग रही सखी को भी शाप-मुक्त किया जाए, तभी मैं सुख से रह सकती हूं। इस पर ब्राह्मण ने नन्दा को भी बुलवाया और सारस्वत-यज्ञ सम्पादित करके उसे भी वाक्‌शक्ति वापस दिलवा दी। इससे प्रमुदित होकर नन्दा ने नृपति उत्तम का अति आभार मानते हुए उन्हें एक परम प्रतापी और तेजस्वी पुत्रप्राप्ति का आशीर्वाद भी दिया। कालान्तर में उसको ऐसे ही एक पुत्र की प्राप्ति हुई। उस शिशु के जन्म के समय सर्वत्र आनन्द छा गया सभी देवताओं ने मंगल वाद्य बजाये। रूप में, कर्म में तथा गुणों में उत्तम होने के कारण उस बालक का नाम औत्तम मनु पड़ा तथा उसी के नाम से औत्तम मन्वन्तर का चलन हुआ। औत्तम मन्वन्तर के विषय में जो ध्यान से सुनता और सुनाता है वह अति पुण्यात्मा होता है तथा उसे अपने पुण्यों का फल प्राप्त होता है। विप्र ! अब मैं आपको इस मन्वन्तर के देवता आदि के विषय में बतलाता हूं, आप समाहित चित्त होकर श्रवण करें।

औत्तम मन्वन्तर में देवताओं के पांच वर्ग थे। प्रथम को स्वद्यामा नाम से जाना जाता है। ये अपनी ही ज्योति से ज्योतित होने के कारण यथानाम तथागुण थे। दूसरा गुण सत्य व तीसरा शिव नाम से प्रसिद्ध है। 'शिव' यथाशीघ्र फल देने वाले हैं तथा नाम स्मरण मात्र से पाप नाश करने वाले हैं। चतुर्थ और पंचम वर्ग में प्रतर्दन वशवर्त्ती देवताओं की गणना होती है। इसी प्रकार इस मन्वन्तर के यज्ञभुक् देवताओं की भी पांच कोटियां है तथा प्रत्येक कोटि में द्वादश देवता हैं। इनमें सुशान्ति नामक इन्द्र सौ अश्वमेध यज्ञ करके तीनों लोकों में गुरुत्व प्राप्त करते हैं। इस मन्वन्तर के मनु के अज्ञ, परशुचि और दिव्य नामक तीन परम-पराक्रमी पुत्र हुए जिन्होंने आमन्वन्तर शासन किया। इस काल में महातप नामक एक अति तेजस्वी ऋषि हुए थे, जिनके सात पुत्र इस युग के सप्तर्षि कहे जाते हैं। मार्कण्डेय जी बोले—विप्र ! अब मैं तामस नामक मनु और उसके मन्वन्तर का वर्णन करता हूं। यह चौथा मन्वन्तर है। इसे आप सावधान हो कर सुनें।

एक समय स्वराष्ट्र नामक एक अति प्रतापी और अति पराक्रमी नरेश हुआ। भगवान् भुवन भास्कर की परम कृपा से उसे दीर्घजीवन का वरदान प्राप्त हुआ था। उसकी सुरूपाधन्या सौ रानियां थी। मन्त्रीगण, मित्र-कलत्र आदि के साथ वह परम आन्नद और सुखोपभोग पूर्वक लम्बे समय तक शासन करता रहा। उसकी रानियां, मन्त्री अथवा प्रजा आदि उसके समान दीर्घजीवी नहीं थे, अतः काल-चक्र से वे सभी मृत्यु को प्राप्त हुए। फलतः राजा अकेला पड़ गया और इस अवसर का लाभ उठाकर विमर्द नामक एक राजा ने उस पर आक्रमण करके उसे पराजित कर दिया और उसके राज्य को अपने राज्य में मिला लिया। पराजय के दु:ख से और मित्र के वियोग से कातर स्वराष्ट्र सरिता-तट पर जाकर घोर तप करने लगा। ग्रीष्म ऋतु में पंचानन ताप, पावस में खुले व्योम के नीचे वास और शीतकाल में सरिताजल में साधना करते हुए नृपति का समय व्यतीत होने लगा। एक बार वर्षा ऋतु में जलप्लावनकारी मेघों ने इतना घनघोर जलपात किया कि तपोलीन राजा जल में डूब गया। पर्याप्त समय डुबकियां खाने के पश्चात् अन्त में किसी प्रकार जल में बहती हुई एक मृगी की पूंछ पकड़ कर उस पंकिल जल राशि से बाहर निकलने में समर्थ हो सका।

भूमि पर पहुंच कर राजा को उस मृगी के स्पर्श से रोमांच और कामानुभूति होने लगी और उसने उसकी पीठ पर हाथ फेरा। स्पर्श में अन्तर्हित भावना को समझ कर मृगी ने मानव वाणी में कहा—राजन ! आप जिस भाव से मेरी पीठ पर हाथ फेर रहे हैं, वह स्वाभाविक ही है किन्तु मैं आपके लिए अगम्य हूं क्योंकि मेरा गर्भस्थ बालक इस मार्ग की बाधा है।

मृगी को मानव वाणी में वार्त्ता करते हुए देख कर राजा विस्मय-विमूढ़ हो गया। राजा ने मृगी से उसका परिचय जानना चाहा। इस पर वह बोली—मैं दृढ़धन्वा की कन्या उत्पलावती और आपकी पटरानी हूं। बालापन में अपनी सखियों सहित वन-विहार करते हुए मैंने भोगरत मृग-युग्म को बाधा पहुंचाई थी, जिससे भयभीत होकर मृगी अन्यत्र भाग गई और निवृत्ति चक्षु मुनि के मृगवेशधारी सुतपा नामी कुमार ने अति क्रुद्ध होकर मुझे मृगी रूप में जन्मने का शाप दे दिया था। इस पर जब मैंने उसकी बहुत अनुनय-विनय की तथा उसे प्रणामादि से सन्तुष्ट किया तो वह महर्षि बोला ! मेरा शाप तो अन्यथा नहीं हो सकता, हां, मैं तुम्हें शापमुक्त होने का उपाय बतलाता हूं। हे सुन्दरि ! मृगी

योनि में विचरते हुए किसी तपोनिष्ठ सज्जन का संसर्ग प्राप्त कर जब तुम एक शिशु को जन्म दोगी तब तुम्हारी उस योनि से मुक्ति हो जाएगी। तुम्हारे गर्भ से उत्पन्न वह शिशु महाप्रतापी, तेजस्वी, पिता के वैरियों का संहारक और नव मन्वन्तर का अधिपति मनु होगा। अब शाप की अवधि का अन्त निकट ही है।

इस वृत्तान्त को सुन कर राजा को प्रसन्नता हुई और वह पर्याप्त काल तक उसके साथ रहा। यथा समय मृगी ने एक अति दिव्य, प्रभामय शिशु को जन्म दिया और वह उस योनि से मुक्त होकर अन्य लोक को चली गई। राजा उस शिशु का पालन करते हुए वन में ही रहा। तमोगुण के वशीभूत मृगी की योनि को प्राप्त मां के गर्भ से जन्म धारण करने के कारण वह बालक तमस नाम से प्रसिद्ध हुआ। कालान्तर में उसने अपने पिता के शत्रुओं का दमन कर अपना सुदृढ़ राज्य स्थापित किया। ऐसे महान् पुत्र का सुख लाभ कर उस दीर्घजीवी राजा स्वराष्ट्र ने अपनी देह त्याग दी।

तमस मनु के मन्वन्तर में सत्य, सुधी, सुरूप व हरिगण नामक चार कोटि के देवता हुए। उनमें से प्रत्येक गण में २७ देवता होते थे। इसके अधिपति शिखी नामक रुद्र थे। ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, अग्नि, चैत्र, वलक व पीवर इस मन्वन्तर के सप्तर्षियों के नाम हैं। तामस मनु को नर, क्षान्ति, दान्त, शान्त, जंघा, जानु आदि पुत्रों की प्राप्ति हुई। ये सभी तेजस्वी, पराक्रमी एवं बली थे। मार्कण्डेय जी बोले—इस मन्वन्तर का माहात्म्य यह है कि इसके श्रवण-कथन से अज्ञान का क्षय होता है।

मार्कण्डेय जी बोले—हे द्विजश्रेष्ठ ! मैंने आपके सम्मुख चार मन्वन्तरों का वर्णन किया है। अब मैं आपको पांचवें रैवतक और छठे चाक्षुष मन्वन्तर के विषय में बतलाता हूं।

पांचवें रैवतक मन्वन्तर का परिचय देते हुए मार्कण्डेय जी बोले—ऋषिश्रेष्ठ ! किसी समय में ऋतवाक् नामक एक वेदज्ञ ऋषि थे। बहुत काल तक वे निःसन्तान ही रहे किन्तु अन्त में जब रेवती नक्षत्र अपने अन्तिम चरण में था तो उनकी भार्या को गर्भ रह गया और कुछ समय पश्चात् उन्हें एक पुत्र की प्राप्ति हुई। पुत्र-प्राप्ति से माता-पिता को प्रसन्नता होना स्वाभाविक था किन्तु पुत्र कुपुत्र सिद्ध हुआ। उसने अपनी दुश्चरित्रता में अनेक प्रमाण प्रस्तुत कर दिये। इतना ही नहीं, एक समय तो उसने एक ऋषि की भार्या का अपहरण कर लिया। जन्म से ही माता-पिता के लिए कष्ट और क्लेश का कारण वह व्यभिचारी उनके लिए

अभिशाप हो बन गया । वे सोचने लगे कि जो पुत्र माता-पिता के लिए शूलवत्, पितरों को उच्चपद से पतित करने वाला और शत्रुओं को आनन्दित करने वाला हो, ऐसे कुपुत्र से अपुत्र होना ही अधिक श्रेयस्कर है। कुपुत्र माता-पिता का नरक से तारण नहीं करता, अपितु और भी उन्हें नरक में ढकेल देता है। इस प्रकार खिन्नमना उन्होंने महर्षि गर्ग से इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया। गर्ग जी ने कहा—हे मुने ! आपका पुत्र रेवती के अन्तिम भाग में उत्पन्न हुआ है, अतः वह एसा दुवृत्त तथा नीच है। इसके लिए आपके कर्मादि तनिक भी उत्तरदायी नहीं हैं। यह सुनकर ऋषि को रेवती नक्षत्र पर अति क्रोध हो आया और उन्होंने उसे शाप देकर आकाशमण्डल से भूमि पर गिरा दिया। शापग्रस्त वह नक्षत्र कुमुद पर्वत पर गिरा और उसके प्रकाश से चारों दिशाओं में आलोक फैल गया तथा वह पर्वत भी रैवत नाम से प्रसिद्ध हो गया। फिर उस नक्षत्र से एक अनिन्द्य रूपवती सुकन्या प्रकट हुई जिसे उस क्षेत्र में तपस्या-रत प्रमुचि महिष ने अपनी कन्या के तुल्य ही पाला-पोषा व उसे रेवती नाम दिया। वह कन्या दूज के चन्द्रमा के समान उत्तरोत्तर बढ़ने लगी। उसे यौवन की ओर बढ़ता देखकर ऋषि को उसके विवाह की चिन्ता सताने लगी। यथासाध्य प्रयत्न करने पर भी ऋषि को कन्या के लिए उपयुक्त वर न मिल सका। अन्ततः वे अपनी अग्निशाला में गए और अपनी कन्या के वर के विषय में अग्नि से पूछने लगे। अग्नि ने कहा कि परम पराक्रमी धर्मात्मा व सबल-बाहु नृपति दुर्गम इस कन्या के पति होंगे। वे स्वायम्भुव मनु के वंशधर हैं तथा राजा क्रिमशील की महिषी कालिन्दी के पुत्र हैं। कुछ काल के उपरान्त वह राजा जंगल में आखेट करते हुए महर्षि प्रमुचि के आश्रम में पहुंचा। उस समय प्रमुचि यज्ञशाला में थे, अतः उसने रेवती को "प्रिये" कह कर संबोधित किया और ऋषि के विषय में पूछा। ऋषि ने जब यह स्वर सुना तो वे वहां आए और राजा का उन्होंने उपयुक्त सम्मान किया। उन्होंने उसे जामाता के रूप में संबोधित किया तो राजा को किंचित् आश्चर्य हुआ और उसने कहा—ऋषिश्रेष्ठ! मैं अपनी सुभद्रा शान्त, तनया, सुराष्ट्रजा, कावेरी-तनया, वादंबा, सुजाता, त्रिपाठा, वस्थजा तथा नान्दनी आदि पत्नियों के विषय में तो जानता हूं, किन्तु आपने मुझे किस निमित्त जामाता कहा है यह मैं नहीं समझ पाया हूं। इस पर प्रमुचि मुनि बोले —राजन्! यह मेरी कन्या रेवती है और आपने इसे प्रिया कह कर सम्बोधित किया है। अग्नि देव ने भी आपको इसके पति रूप में स्वीकार किया है। यह सुनकर राजा मौन हो गया और मुनि ने

विवाह की तैयारियां प्रारम्भ कर दीं। तब रेवती बोली—आदरणीय पिताजी! आप मेरा विवाह तब कीजिए जब रेवती नक्षत्र लग जाए। इस पर ऋषि बोले—वह तो ऋतवाक् ऋषि के शाप से भूपतित हो चुका है और अशुभ नक्षत्र है फिर तुम्हारा विवाह उस समय कैसे किया जा सकता है? कन्या बोली—क्या मेरे पिता में इतनी शक्ति नहीं है कि वह रेवती नक्षत्र को पुनः आकाश में स्थापित कर सकें? पुत्री का ऐसा आग्रह देख कर पिता ने रेवती नक्षत्र को पुनः आकाश में स्थापित कर दिया और उपयुक्त विधि से अपनी कन्या का विवाह सम्पन्न किया। विवाहोपरान्त ऋषि ने राजा को आशीर्वाद दिया कि तुम्हारे वंश में मनु का जन्म होगा जो रैवत नाम से प्रसिद्ध होंगे। कालान्तर में ऋषि का यह आशीर्वाद फलित हुआ।

मार्कण्डेय जी बोले—विप्र! रैवत एक परम प्रतापी, पुण्यात्मा और चक्रवर्ती सम्राट हुए। उनके समय में सुमेधा, भूपति, अभिताभ, बैकुण्ठ आदि देव गण हुए। प्रत्येक गण में चौदह देवता थे। विभु उस समय के इन्द्र हुए। हिरण्यलोमा, वेद श्री, ऊर्ध्वबाहु, सुधामा, परजन्य और वसिष्ठ उस समय के सप्त ऋषि थे। रैवत, मनु के अपने ही समान बलबंधु, महावीर्य, सुषण्डव, सक आदि चार पुत्र हुए जिन्होंने रैवत मन्वन्तर में पूर्ण शासन किया है। द्विजश्रेष्ठ! जो भी कोई इस मन्वन्तर की कथा कहता-सुनता-पढ़ता है उसके सब पाप नष्ट होते हैं और अन्त में वह स्वैच्छित सुलोक का अधिकारी बनता है।

छठे चाक्षुष मन्वन्तर का परिचय देते हुए मार्कण्डेय जी बोले—ऋषे! इस मन्वन्तर के मनु का पूर्व समय में ब्रह्मा जी के चक्षु से जन्म हुआ था, अतः इस जन्म में भी वे उसी पुराने नाम 'चक्षुष' से प्रसिद्ध हुए। यह वृत्तान्त इस प्रकार है।

राजर्षि अनमित्र की भार्या का नाम गिरिभद्रा था। उसके गर्भ से एक पवित्र, धार्मिक, जातिस्मर और दिव्यगुण-युक्त पुत्र ने जन्म लिया। एक दिन जननी अपने नवजात शिशु के प्रति स्नेह एवं वात्सल्य को प्रदर्शित करती हुई बारम्बार उसका आलिंगन करने लगी। उधर जिस राजा विक्रान्त के घर यह शिशु पहुंचा दिया गया था उसने धर्मानुसार उसके सब संस्कार कराये। यज्ञोपवीत हो जाने के उपरान्त गुरु ने उससे जननी को प्रणाम करने को कहा तो वह बोला—मैं किस जननी को प्रणाम करूं। राजा विक्रम की रानी हैमिनी को अथवा नृपति अनमित्र की रानी गिरिभद्रा को? यह सुनकर गुरु विस्मित, भ्रमित और विमुग्ध

हो गए। उस समय उस बालक ने—जिसे आनन्द नाम दिया गया था—संपूर्ण वृतान्त सुनाते हुए बतलाया कि इस राजा का वास्तविक पुत्र विशाल-ग्राम में विप्रबोध के घर में चैत्र नाम से पल रहा है। यह सब बतलाकर तथा ज्ञानोपदेश करके वह बालक मोक्ष प्राप्ति हेतु तपस्या करने के लिए वन को चला गया। राजा विक्रान्त ने भी विप्रबोध का सम्मान करके उससे अपना पुत्र वापिस प्राप्त किया और उसे ही अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

आनन्द जब मोक्षप्राप्ति हेतु तत्पर हुआ तो ब्रह्मा जी ने उस अल्पायु बालक को समझाते हुए कहा— वत्स ! कर्त्तव्य-कर्मों का पालन किए बिना मोक्ष नहीं मिलता, अतः तुम्हें प्रथम अपने कर्म पूर्ण करने हैं। तुम मनु बनोगे और चाक्षुष नाम से प्रसिद्ध होगे। ब्रह्मा जी की बातें सुनकर बालक ने तपस्या का विचार त्याग दिया। कालान्तर में वह चाक्षुष मनु नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा उग्र की कन्या विदर्भा से इन मनु का विवाह हुआ। इनके अनेक पराक्रमी पुत्र हुए। इस मन्वन्तर में आर्यगण, प्रसूत-गण, मनाख्यगण, यूथग, अमृताशी आदि पांच गण थे इनमें से प्रत्येक गण में आठ-आठ देवता थे। इस मन्वन्तर में मनोजव इन्द्र देवों के अधिपति हुए। इस समय के सप्तर्षियों में सुमेधा, विरजा, हविष्यमान्, मधु, उन्नत, अति और सहिष्णु की गणना होती है। इन मनु के उरु, पुरु आदि पुत्र पृथ्वीपति बने। इस मन्वन्तर का श्रवण करने वालों को यश तथा पुत्र आदि की प्राप्ति होती है।

मार्कण्डेय जी ने ब्राह्मण से कहा—द्विजश्रेष्ठ ! छः मन्वन्तरों के वर्णन के पश्चात् अब मैं आपके समक्ष उस मन्वन्तर का वर्णन करता हूं जिसे वैवस्वत कहते हैं। वैवस्वत मनु भगवान् मार्तण्ड (सूर्य) के पुत्र थे तथा उनकी जननी का नाम संज्ञा था। संज्ञा के पिता विश्वकर्मा थे। पति की तेजस्विता से व्याकुल होकर संज्ञा उन्हें देखते ही अपने चक्षु बन्द कर लेती थी। इससे कुपित होकर सूर्य ने संज्ञा को शाप दिया कि उसके गर्भ से समदृष्टि वाला पुत्र जन्म लेगा। इस शाप को पाकर संज्ञा को अपने पति को निरन्तर चंचल नेत्रों से देखना प्रारम्भ किया। इससे सूर्यदेव ने उसे पुनः एक चंचल पुत्री प्राप्ति करने का शाप दे डाला। कालान्तर में इन शापों के फलस्वरूप संज्ञा ने यम और यमुना नामक दो सन्तानों को जन्म दिया।

संज्ञा कुछ काल तक तो अपने पति का तेज सहन करती रही, किन्तु फिर उस तेज को सह पाना उसके लिए कठिन हो गया, अतः उसने

अपनी एक छाया संज्ञा का निर्माण किया और उसे सब कुछ समझा-बुझा कर वह अपने पितृ-गृह को चली गई। वहां वह बहुत समय तक रही, तब पिता विश्वकर्मा ने उससे कहा—पुत्रि ! तुम्हारा यहां रहना हमारे लिए बड़ा ही सुखद व आह्लादकारी है, किन्तु विवाहिता कन्या की शोभा अपने पतिगृह में ही होती है, अतः अब तुम वहीं जाओ। पुत्री ने पिता का घर तो छोड़ा किन्तु पतिगृह में न जाकर वह उत्तर कुरु-वर्ष में वाजिनी (घोड़ी) के रूप में तप करने लगी।

इधर छाया संज्ञा को वास्तविक संज्ञा जानकर सूर्य ने उसके गर्भ से भी दो पुत्र और एक पुत्री को जन्म दिया। व्यवहार में छाया का अपनी संतान और संज्ञा की सन्तानों के प्रति भेद स्पष्ट देखा जा सकता था। अतः एक बार इसे सहन न कर पा सकने के कारण यम ने रुष्ट हो छाया संज्ञा को मारने को अपना चरण उठाया। यह देखकर मां को क्रोध हो आया और उसने पुत्र को शाप दे दिया कि तेरा वह चरण गलकर भूमि पर गिर जाए। मां के इस शाप को सुन कर यम को अति विस्मय हुआ और वे अपने पिता मार्तण्ड के पास पहुंचे। सारा वृत्तान्त सुनकर मार्तण्ड को कुछ सन्देह हुआ क्योंकि कोई भी जननी अपने पुत्र को ऐसा शाप नहीं दे सकती, अतः वे छाया-संज्ञा के निकट आये तथा उसे शाप का भय दे कर संज्ञा के विषय में पूछा। शाप-भय से आक्रान्त छाया ने संज्ञा से सम्बन्धित सभी बातें बतला दीं। यह सब जानकर सूर्यदेव अपने श्वसुर विश्वकर्मा के पास गए और उनसे संज्ञा के विषय में जानना चाहा। ऋषि ने बतलाया कि वह यहां आई तो थी किन्तु अब यहां नहीं है। विस्मित भाव से मार्तण्ड ने उसके विषय में ध्यान लगाया और सब कुछ जान गये। तब उन्होंने विश्वकर्मा से कहा कि आप मेरा तेज क्षीण कर दें। विश्वकर्मा ने अपने यन्त्र से सूर्यदेव का तेज क्षीण कर दिया। इसप्रकार से तेज क्षीण होने पर देवताओं तथा ऋषि-मुनियों ने बड़े भक्ति-भाव से सूर्यदेव की स्तुति की—हे देव ! तुम ऋक्स्वरूप हो, तुम साम और यजु स्वरूप हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम ज्ञान स्वरूप और अमल आत्मा हो, तुम्हें हमारा नमन है। तुम शंख, चक्र, गदा व पद्मधारी हो, वरिष्ठ, वरेण्य परमात्मा हो, तुम्हें हमारा नमस्कार है, बारम्बार नमस्कार है। तुम्हीं भास्कर और दिनकर रूप हो, तुम्हें नमस्कार है। तुम्हीं जगत् के कारणस्वरूप, ब्रह्म-रूप, साकार और निराकार हो, तुम्हें बारम्बार हमारा प्रणाम है।

इस प्रकार ऋषियों और देवताओं द्वारा स्तुति किये जाने पर सूर्यदेव

ने अपना तेज मुक्त किया। उनके ऋक्मय तेज से पृथ्वी, यजुर्मय तेज से आकाश और साममय तेज से स्वर्ग बना। त्वष्टा द्वारा मार्तण्ड के १५वें अंश से शिवजी का त्रिशूल, विष्णु का चक्र, पावक का तेज, कुबेर की पालकी तथा उग्र एवं दिव्य अस्त्रों की रचना हुई। तब सूर्यदेव ने केवल १६ भाग मात्र तेज धारण किया और अश्व रूप धारण उत्तर कुरु-क्षेत्र में संज्ञा में मिलने गये। पति को पहचान कर घोड़ी रूपधारी संज्ञा के आनन्द का पारावार न रहा। इस मिलन के पश्चात् उनके तीन पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से एक नासत्य दूसरा दस्र व तीसरा ढाल, खड्ग और कवच धारी रेवत नाम से प्रसिद्ध हुए। तदुपरान्त मूल रूप धारण कर अपने गृह लौट आये। उनके ज्येष्ठपुत्र वैवस्वत ही मनु बने। द्वितीय पुत्र समदृष्टि रखने के कारण यमत्व के अधिकारी बने। यमुना नामक पुत्री कलिन्द देश में नदी बन कर प्रवाहित होने लगी तथा कालिन्दी कही जाने लगी। अश्विनीकुमारों को स्वर्ग में वैद्यों का पद मिला। रैवत गुह्यकाधिपति बने। इसके अतिरिक्त छाया के गर्भ से सावर्णिक, शनैश्चर व तपती नामक तीन और सन्तानों की उत्पत्ति हुई। इनमें से प्रथम बलि के इन्द्र बनने पर मनु पद के अधिकारी हुए। शनैश्चर की गणना नक्षत्रों में होती है। तपती कन्या का विवाह संवरण राजा से हुआ तथा उसे कुरु नामक पुत्र की प्राप्ति हुई।

वैवस्वत मन्वन्तर का परिचय देते हुए मार्कण्डेय जी बोले—विप्र-प्रवर! इस मन्वन्तर में आदित्य, वसु, रुद्र (कश्यप-सुत) साध्य, वसु और विश्वगण (धर्म के पुत्र) भृगु-पुत्र भृगुगण तथा अंगिरा के पुत्र अंगिरागण आदि अष्ट देवता हुए तथा उर्जस्वी को देवराज इन्द्र का पद प्राप्त हुआ। अत्रि, वसिष्ठ, कश्यप, गौतम, भरद्वाज, कुशिकसुत-विश्वामित्र तथा जमदग्नि इस समय के सप्तर्षि तथा इक्ष्वाकु, नभग, धृत, शर्याति, नरिष्यन्त, नाभाग, दिष्ट, करुष और पृषध ये नौ वैवस्वत मनु के विश्व-विख्यात और तेजोदीप्त पुत्र हुए। यह वैवस्वत मन्वन्तर श्रवन-पाठण और कथन से श्रद्धालु साधक को अघमुक्त करने और पुण्य देने वाला है।

क्रौष्टुकि ने कहा—भगवन्! अन्य सात मन्वन्तरों के विषय में जानने की मेरी इच्छा है। आप मुझे उनके विषय में बताने की कृपा करें।

मार्कण्डेय जी ने कहा—द्विजश्रेष्ठ! सज्ञा के गर्भ से उत्पन्न सावर्णिक आठवें मनु बनेगे। राम, व्यास, गालव, कृप, दीप्तिमान, ऋष्यशृंग और

अश्वत्थामा सप्तर्षि तथा सुतपा, अभिताभ और मुख्य तीन देवगण २०-२० देवताओं से युक्त होंगे। तपस्तप:, शक्र आदि प्रथम गण के, प्रभु, विभु विभास आदि द्वितीय गण के और दम, दांत, ऋत, सोम आदि तृतीय गण के देवता होंगे। प्रतिज्ञा के वशीभूत पाताल में वास कर रहे विरोचन के सुत बलि को इन्द्र पद प्राप्त होगा। विरजा, अर्ववीर, निर्मोह तथा विष्णु आदि इस मनु के पुत्र होंगे।

अपने कथन को आगे बढ़ाते हुए मार्कण्डेय जी बोले—द्विजवर! अब मैं आपको सावर्णि के मनु बनने का वृत्तान्त कहता हूं, आप सावधान होकर श्रवण करें। चैत्र नामक प्रतापी राजा के वंश में सुरथ नाम का एक नीतिवान् नृपति हुआ, किन्तु काल विध्वंस राजा ने उसे पराजित कर दिया तथा पुरवासियों ने भी उसे धन-बल तथा राजा के अन्य अधिकारों से वंचित कर दिया। तब खिन्न एवं उदास मन राजा वन में विचरण करने लगा। इसी स्थिति में वह मेधा ऋषि के आश्रम में पहुंचा किन्तु वहां के पावन और शान्त वातावरण में भो उसका मन मोहासक्त ही रहा तथा अपने राज्य, परिजन और पुरजन की चिन्ता उसे सताती रही। इस प्रकार चिन्तारत उस राजा को ऋषि के आश्रम के निकट एक चिन्ताकुल वैश्य दृष्टिगत हुआ। राजा ने उससे उसकी चिन्ता का कारण पूछा तो वैश्य बोला—मैं समाधि नामक वणिक् हूं। सम्पन्न और सौभाग्य-युक्त होने पर भी आज मैं कलत्र, पुत्रों और सम्बन्धियों तथा मित्रों द्वारा उपेक्षित और त्याज्य हो गया हूं। यद्यपि उन सब ने ही मेरी यह दशा कर दी है तथापि मुझे उनकी तथा धन-सम्पत्ति की चिन्ता निरन्तर सताये जा रही है। मैं समझ नहीं पाया कि अन्तत: यह सब क्या और क्यों है? वैश्य के इन वचनों को सुनकर और अपनी स्थिति से उसका साम्य पाकर राजा वणिक् को साथ लेकर मेधा ऋषि के निकट पहुंचा। दोनों ने ऋषि को प्रणाम निवेदन करके और अनुमति पाकर उनसे अपनी समस्या कही तथा जिज्ञासा की—प्रभो! हमारे ज्ञानयुक्त होने पर भी परिवार आदि की निरर्थक चिन्ता हमें क्यों ग्रस्त किये हुए है? ऋषि ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा—यह चराचर जगत् ज्ञान-युक्त ही है, किन्तु जैसे कोई दिवाकाल में, कोई निशाकाल में तथा कुछ अन्य निशा और दिवाकाल में देखने की शक्ति रखते हैं, तद्वत ज्ञान को समझने की क्षमता भी सब में भिन्न-भिन्न होती है। पशु-पक्षी और मानव आदि देखते-सुनते हैं, किन्तु देख सुनकर उन्हें ग्रहण करने की क्षमता उनमें समान रूप से नहीं होती। यही कारण है कि ज्ञानवान् होने पर भी प्राणी शोक-सन्ताप आदि से ग्रस्त

होता है। सर्वव्यापिनी देवी महामाया उसे ग्रस्त किये रहती है। ग्राप भी उसके प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। ग्रब मैं इस महामाया की उत्पत्ति, शक्ति व महत्त्व ग्रादि का ग्राप लोगों को परिचय देता हूं। आप लोग समाहित चित्त होकर श्रवण करें।

एक बार महाप्रलय के पश्चात् भगवान् विष्णु शेषशैय्या पर योग-निद्रा में लीन थे, तभी उनके कर्णमल से दो महाबली और महाभयानक दैत्यों का जन्म हुग्रा, जिनके नाम मधु ग्रौर कैटभ थे। उन दुष्टात्माग्रों ने बलोन्मत्त होकर कमलासन पर ग्रासीन ब्रह्मा जी को मार डालने का प्रयत्न किया, तब ब्रह्मा जी ने निद्रा-देवी की स्तुति कर भगवान् विष्णु को जाग्रत किया। निद्रा-देवी भगवान् के मुख, नासिका ग्रादि से बहिर्गत हो कर देवी के रूप में साकार हो गईं। इन्हें ही 'महामाया' कहा जाता है। जाग्रत होने पर मधु और कैटभ से भगवान् मधुसूदन का पांच सहस्र वर्षपर्यन्त द्वन्द्व युद्ध होता रहा। ग्रन्ततः महामाया के प्रताप से मुग्ध हो कर उन दानवों ने भगवान् से कहा —हम ग्रापकी वीरता ग्रौर युद्ध से प्रसन्न हैं ग्रौर ग्रापको वरदान देना चाहते हैं। मांगों, क्या चाहते हो ?

भगवान् ने कहा—मैं ग्रपने हाथों तुम्हारी मृत्यु चाहता हूं। दानवों ने सम्पूर्ण स्थल को जलमय देखकर कहा—जहां जल न हो, ग्राप वहीं हमारा वध कर सकते हैं। तब विष्णु भगवान् ने ग्रपनी जंघा पर रखकर उन दोनों का शिरश्छेद कर डाला।

ग्रब देवी की महाशक्ति भी सुनो ! महिषासुर जब दैत्यों का ग्रधि-पति बना तो उसने सुरों के विरुद्ध घोर संग्राम छड़ दिया। इस देवासुर संग्राम में ग्रसुरों की अपरिमेय शक्ति की विजय हुई। ग्रतः देवता ग्रपनी रक्षा के लिए इधर-उधर भागने लगे। महिषासुर इस विजय से उल्लसित होकर स्वयं इन्द्र बन बैठा। ग्रपने पराभव से व्यथित-त्रसित देवगण ब्रह्मा जी के पास पहुंचे ग्रौर उन्हें सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाया। ब्रह्मा जी देवों को शिवजी के पास ले गए ग्रौर शिवजी सबके साथ विष्णुजी के पास ग्रा गए। देवों की व्यथा-कथा सुनकर ब्रह्मा, विष्णु ग्रौर शिवजी को क्रोध हो ग्राया ग्रौर उनके इस कोप के परिणामस्वरूप त्रिदेवों के मुख से महातेज निकला। फिर सभी देवताग्रों के शरीर से भी तेज निर्गत हुग्रा। वह तेज मिल कर व पर्वताकार होकर प्रभा विकीर्ण करने लगा ग्रौर शीघ्र ही उससे एक नारी-शरीर प्रकट हुग्रा। महादेव जी के तेज से उसका मुख मण्डल बना, यम के तेज से केशराशि ग्रौर विष्णु के तेज से उसकी भुजा निर्मित हुईं। चन्द्रमा के तेज से उसके उभय पयोधर, इन्द्र के तेज से मध्य

भाग, वरुण के तेज से जंघाएं और उरु, धरती के तेज से नितम्ब, ब्रह्मा के तेज से चरण, रवि के तेज से चरणों की अंगुलियां आदि बनीं। इसी प्रकार अन्य देवताओं के तेज से उसके शरीर के विभिन्न अंगों की रचना हुई। इस प्रकार जब उस देवी का सर्वांग प्रकट हो गया तो देवताओं ने उसका जय-जयकार करते हुए उसे अपने आयुध देना प्रारम्भ किया। महादेव जी ने शूल, विष्णु जी ने चक्र, यम ने दण्ड, ब्रह्मा ने कमण्डलु, वरुण ने पाश और शंख, दक्ष-प्रजापति ने अक्षमाल आदि तथा सागर ने विभिन्न रत्ना-भरण—वस्त्रादि, विश्वकर्मा ने अभेद्य-अकाट्य कवच आदि समर्पित किए, हिमालय ने देवी के वाहन के रूप में उन्हें सिंह दिया। तब उस महादेवी ने एक अति भयानक, अपूर्व, अति भयंकर हुंकार भरी, जिससे त्रैलोक्य स्तब्ध हो गया। देवताओं ने देवी पर पुष्पवृष्टि की। महिषासुर ने जब यह गर्जन सुना तो वह कारण जानने को उत्सुक हो उठा। देवी के विकराल रूप को देख उसने देवों के साथ युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध में महिषा-सुर के अनेक वीरवर योद्धा, सेनापति—जिनमें उदग्र, महाहनु, चिक्षुर, असुलोम, वाष्कल प्रमुख थे—विशाल गज-रथ आदि की सेना लेकर युद्ध क्षेत्र में कूद पड़े। देवी ने प्रारम्भ में एकाकी ही उनका संहार किया और फिर उन्होंने अपनी श्वासों से शतशः गण उत्पन्न किए, जो उनके साथ मिलकर असुरों का संहार करने लगे। देखते ही देखते शवों के पर्वत खड़े हो गये और रक्त की सरितायें वह निकलीं। रथों की गड़गड़ाहट, अश्वों की हिनहिनाहट और गजों की चिघांड़ या मरने वालों के आर्त्तनाद से वह स्थल अगम्य हो गया। देवी के कुपित वाहन ने भी असंख्य असुरों का संहार कर दिया। देवी का यह रूप देखकर हर्षित देवताओं ने उन पर पुष्पवृष्टि कर उनका अभिनन्दन किया।

राजा को सम्बोधित करते हुए महर्षि मेधा बोले—राजेन्द्र! देवी के इस रूप को और अपनी सेना के क्षय को देखकर असुर-सेनापति चिक्षुर क्रोध से उन्मत्त होकर महाकाली से संग्राम करने चल पड़ा। उसने देवी पर शस्त्रास्त्रों की वर्षा-सी कर दी, किन्तु देवी ने अनायास ही उन्हें खण्डित कर डाला। पुनः खड्ग, धनुष, गदा आदि से प्रहार हुए। चिक्षुर ने देवी का संहार करना चाहा, किन्तु उसका प्रयास व्यर्थ रहा। अन्त में महाकुपित होकर उसने देवी पर शूल फेंका, जो अति प्रचण्ड रतिमण्डल के समान देवी की ओर चला किन्तु देवी ने द्विगुणित वेग स्फूर्ति से अपना शूल फेंककर असुर सहित उसके शूल के शतखण्ड कर डाले।

अपने सेनापति के ऐसे करुण पतन को देखकर चामर नामक महा-

बली एवं भयंकर असुर गजारूढ़ होकर देवी से युद्ध करने चला। उसने देवी पर शक्ति छोड़ी किन्तु वह उनकी हुंकार मात्र से श्रीहत होकर भूमि पर जा गिरी। क्रुद्ध असुर ने शूल से आक्रमण किया, परन्तु महादेवी ने शर-संधान से उसे भी खण्डित कर दिया। तब देवी के वाहन सिंह ने असुर से द्वन्द्व युद्ध किया और लड़ते-लड़ते गज और गजारूढ़ असुर दोनों भूमि पर आ गिरे और तब सिंह ने ऊपर हवा में दछल कर चामर पर पाद प्रहार किया और उसे चीर डाला। इसके बाद उदग्र कराल, उद्धत, वाष्पल, ताम्र, अन्धक, उग्रास्य, उग्रवीर्य, महाहनु, विडाल, दुर्मुख, दुर्द्धर तथा काल आदि सभी असुरों को पाषाण खड्ग वाण तथा कालदण्ड आदि से मृत्यु के घाट उतार दिया। इस विजय से उल्लसित होकर गणों ने देवी का जयजयकार किया। इस विकट विनाश लीला को देखकर महिषासुर महिष रूप में युद्धस्थल में आया और अपने विकराल रूप से देवी के गणों को भयाक्रान्त करने लगा। उसने अपने शृंग, खुर अथवा अपनी पूंछ के प्रहार से देवों को ताड़ित किया। अपने वेग, श्वास-प्रहार तथा हुंकार से उस असुर ने कई गणों को गिरा दिया और वह देवी के निकट जा पहुंचा। उसने सिंह का भी वध करना चाहा। जिस पर देवी को भयानक क्रोध हो आया। असुर भी क्रोधातुर होकर अपने खुरों से पृथ्वी खोदने लगा तथा शृंगों के घर्षण से उसने पर्वत खण्डों को चूर्ण करके देवी पर बरसा दिया। उसके श्वास से पवन का वेग बढ़ गया और मेघ खण्ड-खण्ड होकर गिरने लगे। तब देवी ने भी उसे शीघ्र ही मार डालने का निश्चय कर पाश से बांध लिया, किन्तु उसने तत्काल अपना महिष रूप त्याग दिया। फिर वह कभी सिंह, कभी मानव और कभी गज रूप में प्रकट हुआ। अन्त में वह पुनः महिष रूप धारण कर त्रिलोकी को क्षुब्ध और कम्पित करने लगा। इस पर कुपित देवी मधुर मधु का पान करने लगी। तदनन्तर वह उस अति गर्जनशील, भयानक दानव पर उछल-कर जा चढ़ी और उसे अपने चरणों से दबा दिया। इस स्थिति में देवी ने शूल से उसका कण्ठ-छेदन प्रारम्भ कर दिया। उसका तेज क्षीण पड़ते ही देवी ने असि से उसका शिरश्छेद कर डाला। इस प्रकार वह पराक्रमी और दुर्द्धर्ष असुर मृत्यु को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार महिषासुर का अस्त देखकर स्वर्ग के देवों ने तथा पाताल के बलि आदि असुरों ने देवी का जय-जयकार किया। देवी ने उस महा असुर की सम्पूर्ण वाहिनी को भी क्षण में ही ध्वस्त कर दिया। देव, किन्नर, यक्ष तथा अप्सरा आदि सभी ने इस विजयोत्सव पर नृत्य

गान आदि द्वारा उल्लास प्रकट किया।

देवी की इस विजय से अति हर्षित एवं आनन्दित देवताओं ने उनका स्तवन इसप्रकार से किया। हे जगदम्बे ! आपको हमारा प्रणाम स्वीकार हो। आप हमारा मंगल करें। आपकी महत्ता का वर्णन करने में तो ब्रह्मा-विष्णु एवं महेश भी असमर्थ हैं। आपने केवल अमंगल और भय को दूर करने तथा विश्व-रक्षा हेतु ही रूप धारण किया है। हे देवि! आप पुण्यात्माओं के गृह में सुख-सम्पदा और पापियों के यहां अलक्ष्मी-स्वरूपा हैं। आप ही बुद्धि, श्रद्धा एवं लज्जा स्वरूपा हैं। आप अचिंत्य एवं अद्‌भुत-रूप हैं, आपकी महिमा का वर्णन कर पाना हमारे लिए असम्भव है। आप ही स्वाहा, स्वधा एवं यज्ञरूप हैं। प्रणवयुक्त ऋक्-यजु एवं सामवेद का विषय भी आप ही हैं। आप ही पालनकारिणी और तारणकारिणी हैं। आप ही भगवान विष्णु के हृदय में वास करने वाली लक्ष्मी तथा शिवजी के वामांग में बसने वाली पार्वती भीं हैं। आप ही रक्षिका, अभयदा, भक्तवत्सला, महिषासुर-मर्दिनी, सर्वफलदायिनी हैं। आपकी जय हो ! आपको हमारा बारम्बार प्रणाम है। आप शत्रुओं के कल्याण की कामना से ही उनका संहार करती है। आप-सी करुणामयी एवं दयार्द्र त्रिभुवन में अन्य कोई नहीं। हे मां! आप अपने शूल से अब हमारी रक्षा करो, अपने धनुर्बाण से हमारी रक्षा करो। अपने घण्टानाद, गदा आदि से त्रिदिकों में हमारी रक्षा करो।

इस स्तवन से परम प्रसन्न होकर देवी ने देवताओं से वरदान मांगने को कहा। हर्ष तथा उनकी कृपा से भावविह्वल देवताओं ने कहा—देवि ! हम पर आपका अनुग्रह बना रहे और जब कभी हम आपका स्मरण करें, आप हमें अपने दर्शन देने की कृपा करें। यही हमारी आपसे याचना है। 'तथाऽस्तु' कह कर देवी अन्तर्द्धान हो गई।

कालान्तर में शुम्भ और निशुम्भ नामी दो दनुज-भ्राता असुरों के अधिपति बने। उन्होंने अपने पराक्रम से देवताओं को त्रस्त एवं खिन्न कर दिया। तब देवों ने महादेवी पार्वती के शरीर-कोश से उत्पन्न शिवा देवी की स्तुति की। कोशों से उत्पन्न होने के कारण वह विश्व में कौशिकी नाम से प्रख्यात हुई। उस देवी के प्रकट हो जाने पर पार्वती जी ने श्याम रूप धारण कर लिया और हिमालय प्रदेश में वास करने लगीं। उनके अतीन्द्रिय रूप-सौन्दर्य से चराचर जगत् एवं त्रिलोक भास्वान् हो गए। शुम्भ-निशुम्भ के दो सेवकों चण्ड और मुण्ड ने ऐसी भव्य-रूपवती जग-

-माता को एक बार देखा तो वे उन्हें देखते ही रह गए। उन्होंने उनके रूप का वर्णन शुम्भ-निशुम्भ के निकट किया। वे बोले—वह स्त्री रत्न-स्वरूपा है। आपने ऐरावत, उच्चैःश्रवा, परिजात-तरु, महापद्म निधि, किंजल्किनी-माला, मरणप्रदा शक्ति एवं सर्व रत्न आदि प्राप्त कर लिए हैं, अतः वह नारीरत्न भी आपके पास होनी चाहिए। शुम्भ-निशुम्भ ने यह सुनकर सुग्रीव नामक अनुचर को देवी के पास भेजा। उसने देवी से कहा--सर्वशक्तिमान, त्रिलोकेश्वर, सर्वसम्पदावान् शुम्भ और निशुम्भ आपको अपनी भार्या रूप में अपनाना चाहते हैं। आप चलकर उनकी इच्छा पूरी करके अपना गौरव बढ़ाइए। देवी बोली—दूत! तुम्हारा वचन सत्य है किन्तु मैंने अज्ञानवश यह प्रतिज्ञा की है कि जो मुझे संग्राम में पराजित कर देगा, वही मेरा भर्त्ता होगा अतः तुम उन दैत्यराजों से जा कर मेरा यही सन्देश कह दो। मैं अपनी प्रतिज्ञा का त्याग नहीं कर सकती। दूत ने वापिस लौटकर सब बातें शुम्भ-निशुम्भ को सुना दीं। मार्कण्डेय जी बोले—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ! इसने उनके क्रोधरूपी अग्नि में घृत का कार्य किया। अतः शुम्भ ने धूम्रलोचन नामक दानवराज को आज्ञा दी कि तुम उसके केश खींच कर बलपूर्वक उसे दरबार में उपस्थित करो। साठ हजार सैनिकों की वाहिनी लेकर वह राक्षस देवी से युद्ध करने को चल पड़ा। उसने देवी के समीप पहुंचकर देवी को ललकारा और उन पर आक्रमण करने को दौड़ा तो देवी ने हुंकार मात्र से ही उसे भस्म कर डाला। देवी के वाहन प्रचण्ड केसरी ने क्षण में ही सेना को नष्ट भ्रष्ट कर दिया। इस दुःसंवाद एवं पराजय के समाचार ने शुम्भ को और भी अधिक क्रोधित बना दिया। उसने अति क्रोध में भर कर चण्ड और मुण्ड को आदेश दिया—जाओ! उसे जीवित या मृतक किसी भी रूप में बांध कर शीघ्र मेरे सम्मुख उपस्थित करो।

देवी हिमाद्रि के कंचनामा युक्त शिखर पर स्मित वदना बैठी थी। चण्ड-मुण्ड चतुरंगिणी ले वहां जा पहुंचे। उन्होंने धनुर्वाण तान, शस्त्रास्त्र संभाल उन्हें पकड़ने की चेष्टा की। उनकी इस कुचेष्टा से कुपित हो देवी की भृकुटी चढ़ गई। उनका कान्तिदीप्त मुखमण्डल श्यामल पड़ गया और तत्काल उनके मुखारविन्द से एक खड्गधारिणी कराला काली प्रकट हो गई। वह महाभयानक रक्तनेत्र, लपलपाती जिह्वायुक्त, ब्रह्माण्ड कम्पायक गर्जनशीला देवी शीघ्र ही दानवों का भक्षण करने लगी। उनके इस प्रचण्डाघात व आतंक से दानवों का संहार देख, चण्ड-मुण्ड ने मिलकर उन पर आक्रमण किया व शस्त्रास्त्रों की बौछार कर

उन्हें उससे आवृत्त कर दिया। वे सभी शस्त्रास्त्र, चक्र आदि देवी के मुंह में इस प्रकार प्रविष्ट हो गये जैसे दीप्तिमान रविमण्डल नीलगगन में अस्त हो जाते हैं। तब अति क्रोध कर उस कराला काली ने एक प्रहार में चण्ड का व दूसरे में मुण्ड का शिरश्छेदन कर दिया। मृत्यु के समय चण्ड ने ब्रह्माण्ड को कंपाने वाला आर्त्तनाद किया। तदनन्तर उसी देवी ने उन दानवों की सेना का भी संहार कर डाला। उन दोनों के मुण्ड धारण कर काली ने देवी पार्वती से कहा—इन महाभयानक दैत्यों का हनन कर तुम्हें उपहार प्रदान किया है। हे देवी! अब शुम्भ-निशुम्भ का वध तुम स्वयं करना। प्रसन्न हो देवी बोली—चण्ड-मुण्ड का विनाश करने के कारण तुम जगत में चामुण्डा कही जाओगी।

चण्ड-मुण्ड का विनाश शुम्भ के लिए भयानक चुनौती थी, अतः क्रोध का ज्वालामुखी बन उसने ८६३ उदायुद्ध, ८४ कम्बु, ५० कता कोटि-वीर्य, १०० धूम्रवंश जात कुलोत्पन्न दानवों तथा अन्य दैत्यों को भी अपनी-अपनी सेनाएं सजा युद्ध प्रयाण का आदेश दिया। इस प्रकार शत-सहस्त्र महासेना सजा वह दैत्यराज शुम्भ युद्ध हेतु चल पड़ा। उसकी सम्पूर्ण सेना ने देवी व उनके सिंह को घेर लिया। उधर महा चण्डिका की हुंकार, उनके धनुष की टंकार, सिंह की गर्जना व घण्टानाद से धरा-गगन प्रकम्पित हो गये। इसके साथ ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश, इन्द्र, कार्त्तिकेय आदि के शरीरों से पृथक-पृथक शक्तियां उत्पन्न हुईं व देवी के साथ मिल कर दानवों का संहार करने लगीं। इनके नाम क्रमशः ब्रह्माणी, वैष्णवी, माहेश्वरी, एन्द्री, कौमारी आदि थे। तब जटाधारी महेश्वर शिव ने देवी से कहा—मुझे तृप्त करने हेतु इन दानवों का शीघ्र संहार करो। तत्क्षण देवी के शरीर से सौ शिवाओं की शक्ति से युक्त महाशक्ति उत्पन्न हुई और उसने महादेव से कहा—भगवन्! आप दानव से जाकर कहें कि वह पाताल में वास करें तथा देवताओं को पूर्ववत यज्ञभाग व भोजन आदि प्राप्त हों। यदि यह आदेश मान्य नहीं है तो आकर मुझसे संग्राम करें। शिवजी से दौत्यकर्म करवाने के कारण यह देवी शिवदूतिका भी कही जाती है। इस सन्देश में अपना अपमान अनुभव करने वाले उस महा दैत्यराज शुम्भ ने अपनी सेना को युद्ध के लिए प्रेरित किया। महाभयंकर तुमुल छिड़ गया। देवी सहित उन मातृ शक्तियों ने महाविनाश प्रारम्भ कर दिया। ब्रह्माणी, वैष्णवी, माहेश्वरी आदि के प्राणघाती प्रहारों का दानवों ने कुछ काल तक तो सामना किया किन्तु शीघ्र ही उनमें घोर निराशा व आतंक छा गया और वे भागने लगे। यह देख परम वीर रक्त-

बीज आगे आया। उसे मार पाना महाकठिन था क्योंकि उसके शरीर से रक्त की जितनी बूंदें भूमि पर गिरतीं उतने ही समपराक्रमी रक्तबीज उत्पन्न हो जाते। सभी शक्तियों के प्रहार से उसके शरीर से रक्तपात होने से सारा भू-मण्डल रक्तबीजों से भरगया। यह देख देवताओं को बड़ा-भय हुआ। तब देवी ने चामुण्डा से कहा—तुम मुंह खोलकर इसका रक्त पान करो। तब यह रक्तहीन हो कर मारा जाएगा। चामुण्डा ने वैसा ही किया और रक्त बीजों को रक्त सहित निगलती गई। अन्त में रक्तबीज निर्वीय व क्षीण पड़ गया व देवी के हाथों मृत्यु को प्राप्त हुआ। इस प्रकार उसका अन्त होते देख कर देवगणों ने तुमुल हर्षनाद किया।

रक्तबीज का वध हो जाने पर सेना की बागडोर शुम्भ-निशुम्भ ने संभाली। वे दोनों अनेक महाबली दानवों की सेना सहित देवी से लड़ने लगे। उन्होंने असंख्य वाणों की वर्षा कर देवी को आच्छन्न कर दिया, परन्तु चण्डिका ने अपने शर-संधान से उनके वाणों को छिन्न-भिन्न कर दिया।

तदुपरान्त निशुम्भ ने शक्ति छोड़ी, उसे देवी ने अपने चक्र से खण्ड-खण्ड कर दिया। उसके द्वारा फेंके गये शूल को उन्होंने मुष्टिका-प्रहार से नष्ट कर दिया। इसी प्रकार गदा, फरसी आदि का प्रयोग भी व्यर्थ सिद्ध हुआ और अन्त में देवी के भयानक वाण-प्रहारों से निशुम्भ पृथ्वी पर गिर पड़ा। उसकी यह दशा देखकर शुम्भ ने उन पर तीव्र आक्रमण कर दिया। वह रथारूढ़ होकर अनगिनित अष्ट भुजाधार आयुध लेकर उनसे युद्ध करने लगा। उसे इस प्रकार युद्धोन्मत्त देखकर देवी ने शंख-नाद, धनुष की टंकार, घण्टानाद तथा शत्रुहृदय विदारक अट्टहास किया। उनके सिंह ने भी गजमद-हारी गर्जन की, इससे शुम्भ को क्रोधा-भिभूत हुआ देखकर अम्बिका ने उसे ललकारा—अरे दुरात्मन्! ठहर, मैं अभी तुम्हें शिक्षित करती हूं। क्रुद्ध शुम्भ ने तब उग्रदीप्ति का प्रयोग किया जिसे देवी ने मल्होका नाम्नी शक्ति से खण्डित कर दिया। इसी प्रकार उसके द्वारा छोड़े सहस्त्रों वाणों को देवी ने काट दिया और इधर देवी के द्वारा बरसाये गये वाणों को दैत्यराज ने व्यर्थ कर दिया। इससे अतिकुपित होकर चण्डिका ने उसे शूल के आघात से मूच्छित बना दिया। इस बीच निशुम्भ पुनः युद्ध-हेतु तत्पर हो गया। उसने नानाविध कलाओं से युद्ध कर उन्हें जीतना चाहा किन्तु उन्होंने उसके वक्ष पर शूलाघात करके उसे धराशायी कर दिया और उसके वक्ष से उत्पन्न एक महाबली

दानव को भी निमिष मात्र में मार गिराया। पश्चात् देवी का सिंह और अन्य मातृकाएं दानवों का रक्त-पान तथा भक्षण करने लगीं। वे आनन्द से नृत्य करने तथा उल्लसित होने लगीं। अपने प्राणप्रिय सहोदर का ऐसा अन्त देखकर शुम्भराज ने देवी से कहा—दूसरों की शक्ति पर इतराने वाली! ठहर, मैं तुझे अभी इसका दण्ड देता हूं! देवी सहास बोली—मूर्ख! ये सब मेरे ही अनेक रूप हैं। ले, मैं इन्हें पुनः अपने में समाहित (लय) कर लेती हूं। देवी के इतना कहते ही सभी शक्तियां उनमें समा गईं और वे अकेली ही वहां शोभा पाने लगीं। अनन्तर शुम्भ और देवी के मध्य अति दारुण, अतुल एवं विलक्षण युद्ध होने लगा। धनुष, वाण, परिघ, शक्ति, ढाल, खड्ग, मुद्गर आदि से युद्ध करते हुए दैत्यराज को निराश ही होना पड़ा। देवी ने दैत्यराज के सभी शस्त्रास्त्रों को काट डाला और उसके अश्वों तथा सारथी आदि को भी नामशेष कर दिया। तब दैत्यराज ने मुष्टिका-प्रहार से देवी को विचलित करना चाहा तो प्रत्युत्तर में उन्होंने उसकी छाती पर थप्पड़ जमा दिया। अनन्तर उन दोनों के मध्य शून्य व्योम में युद्ध हुआ और इस युद्ध में देवी ने उस दानव को भूमि पर पटक दिया, किन्तु वह शीघ्र ही उठ कर पुनः मुष्टिका-प्रकार हेतु उनकी ओर दौड़ पड़ा। अब तक भगवती उस दानव को बहुत खिला चुकी थी, अतः अब उसके वक्षस्थल पर शूल प्रहार कर उन्होंने उसके प्राण अपहरण कर लिए। उसके मृत होकर भूपतित होने से सकल पर्वत, सागर, द्वीप, आदि विकम्पित हो गये। उस दुष्टात्मा का अन्त होने से सभी आनन्दित हुए। गगन निर्मल हो गया, अरिष्ट एवं कुग्रह, नक्षत्रादि ओझल हो गये। सरिताएं कल-कल, छल-छल का स्वर करती हुई स्वछन्द एवं स्वाभाविक गति से प्रवाहित होने लगीं। देव, गन्धर्व, अप्सरादि वादन, गायन तथा नर्तनरत हुए। रवि-रश्मियों का आलोक पावन प्रखर हो गया, शीतल मन्द सुवासित पवन का प्रवाह होने लगा, वह्नि की प्रभा निर्मल हो गई और सभी दिशाओं में शान्ति ही शान्ति छा गई।

इस प्रकार शुम्भ-निशुम्भ का अन्त देखकर सभी देवताओं ने भक्ति-भाव विह्वल होकर देवी का स्तवन किया। उन्होंने देवी की अखिल जगज्जननी, विश्वेश्वरी, जलेश्वरी, अति वीर्यवती, वैष्णवी, ब्रह्माणी, महेश्वरी, कौमारी, ऐन्द्री, सनातनी, सर्वदुःखहारिणी, असुरघातिनी, महाशक्ति के रूप में स्तुति की तथा उन्हें बारम्बार प्रणामपूर्वक उनसे क्षमा एवं कृपा को याचना की।

इस पर प्रसन्न होकर देवी ने कहा —देवो! मैं वरदात्री हूं। तुम जो वरदान मांगोगे, मैं दूंगी। मांगो।

देवता बोले—भगवती! आप इसी प्रकार पर दया-दृष्टि बनाये रखें और शत्रुओं का संहार करती रहें, हमें यही वरदान दीजिये।

देवी ने कहा—सुनो! वैवस्वत मन्वन्तर के अठ्ठाइसवें युग में शुम्भ-निम्शुभ नामक दो दैत्यों का जन्म होगा। उस समय मैं विन्ध्यवासिनी के रूप में उनका संहार करूंगी। तब मैं नन्दभामिनी यशोदा के गर्भ से जन्म धारण करूंगी। पुनः रक्त-दन्त धारण कर मैं वैप्रचित्त दानवों का संहार करूंगी। तब मेरा स्तवन रक्त-दान्तिका के रूप में होगा। एक बार सौ वर्ष तक जल नहीं बरसेगा, उस समय मैं शताक्षी रूप में प्रकट होकर प्राणियों की रक्षा करूंगी। जलवृष्टि न होने तक मैं स्व-शरीरोत्पन्न जीवनधारी शाक से सम्पूर्ण लोकों का पालन करने के कारण ही शाकम्भरी कही जाऊंगी। एक समय मुनियों की रक्षा हेतु दुगर्म नामक महादानव तथा उसके साथियों का वध करने के कारण 'भीमा' नाम भी प्राप्त करूंगी। अनेक पदधारी भ्रमरी के रूप में जन्म ग्रहण कर अरुण राक्षस का वध करने से मैं भ्रामरी नाम की शोभा-वृद्धि करूंगी। इस प्रकार जब-जब दानव त्रास देंगे तब-तब मैं उनका विनाश करने के लिए अवतार धारण करूंगी।

जो भी सावधानी एवं भक्ति के साथ मेरी स्तुति करेगा, मैं उसकी सभी बाधाओं को दूर करूंगी। अष्टमी-नवमी या चतुर्दशी को जो मेरे माहात्म्य का श्रवण या पठन-पाठन करेंगे, उन्हें दुःख-दरिद्रता, पाप, प्रियजन-वियोग आदि नहीं सता पाएंगे। मेरे स्वस्त्ययन से सर्व प्रकार के रोग शोक, त्रय ताप, राजभय, स्थान तथा वन्य जन्तु भय आदि निकट नहीं आ सकते। ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में दी गई सब प्रकार की बलि को मैं प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करती हूं। शरत्कालीन वार्षिक पूजा में अथवा नियमपूर्वक मेरा माहात्म्य सुनने एवं कहने वाला सभी प्रकार की विपत्तियों, आपदाओं, कष्टों, अभावों आदि से मुक्त रहता है। मेरी स्तुति से ग्रह-पीड़ा, दारुण स्वप्नबाधा आदि का भी शमन होता है। मेरा स्तवन दुष्ट ग्रहों से ग्रस्त बालकों को उससे मुक्ति दिलाने वाला, कष्ट को समाप्त करने वाला तथा लक्ष्मी, यश आदि का दाता है। अन्य समस्त प्रकार के पूजनों की अपेक्षा मुझे यही स्तवन अधिक प्रिय है। इससे किसी प्रकार की बाधा मेरे भक्तों को नहीं व्याप सकती।

इतना कह कर देवी वहां अन्तर्द्धान हो गईं। हे राजन् ! उस देवी के

अन्तर्द्धान होने पर निडरहुए देवगण अपने-अपने अधिकारों का उपभोग करने लगे और बचे हुए असुर पाताल लोक में चले गए। इस प्रकार वह सर्व-स्वरूपा अजन्मा देवी बारम्बार जगत् की रक्षा के लिए प्रकट होती है। वह जननी शिवरूपा, मायारूपा, महामारीरूपा, सौभाग्य एवं दुर्भाग्य रूपा है। जो व्यक्ति भक्ति-भाव से उनका पूजन-स्तवन आदि करता है, उसका सदा कल्याण होता है।

ऋषि ने यह सारा आख्यान सुनाने के उपरान्त राजा और वैश्य से कहा— महानुभावो! आप भी उन्हीं देवी की साधना करो, तभी आपके सब दुःखों का अन्त होगा। तब दोनों ने उन्हें प्रणाम किया और नदीतट पर जा कर तन्मय भाव से देवी का साधना करने लगे। वे नियमपूर्वक साधना करते, पत्र-पुष्प, धूप आदि से पूजन करके प्रतिदिन अपना रक्त भी देवी को समर्पित करते रहते। इस प्रकार वे तीन वर्षों तक साधना करते रहे। अन्त में देवी ने उन्हें दर्शन दिये और वरदान मांगने को कहा। राजा ने कहा—हे देवि! मुझे यह वरदान दो कि मेरे शत्रुओं का शीघ्र नाश हो तथा मेरा सब कुछ मुझे वापिस प्राप्त हो जाए तथा भविष्य में भी मेरा जन्म एक महान राजा के रूप में हो? वैश्य ने कहा—देवि! मुझे उचित ज्ञान का वरदान दीजिये। देवी ने दोनों को 'तथाऽस्तु' कहा। विदाई से पूर्व देवी ने क्षेत्रिय राजा सुरथ को यह भी बतलाया कि तुम सूर्य से उत्पन्न हो और सावर्णि नामक मनु होगे। इतना कहकर वे अन्तर्द्धान हो गईं।

मार्कण्डेय जी ने कहा हे—द्विजश्रेष्ठ! उस मन्वन्तर में पाराशर-मरीचि, सुधर्मा व भृगु ये तीन देवगण होंगे। प्रत्येक गण में द्वादश देवता होंगे। वह्नि पुत्र-षडानन कार्त्तिकेय उस मन्वन्तर में सहस्त्राक्ष इन्द्र होंगे। मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल तथा हव्यमान सप्तर्षि और धृष्टकेतु, वर्हकेतु, पंचहस्त, निरामय, बृहद्रथ आदि उस मनु के पुत्र होंगे।

दसवें मन्वन्तर का विवरण प्रस्तुत करते हुए मार्कण्डेय जी बोले— विप्रश्रेष्ठ! इस मन्वन्तर के मनु ब्रह्मा जी के पुत्र होंगे। सुखासीन एवं निरुद्ध दो प्रकार के देवगण होंगे। शत प्राणियों के अनुसार देवता भी सौ होंगे। शान्ति इन्द्र पदासीन होंगे। आपोमूर्ति, हविष्यमान, सुकृत, सत्य, नाभाग, अप्रतिम और वसिष्ठ सप्तर्षिपद की शोभा-वृद्धि करेंगे। उत्तमौजा, सुक्षेम, भूरिषेण, वीर्यवान आदि इन मनु के पुत्रों के नाम होंगे। इसके बाद धर्मपुत्र सावर्णि मनु का मन्वन्तर होगा। विहगम, कामग एवं

निर्माणपति देवगण होंगे तथा प्रत्येक गण में तीस देवता होंगे। वृषाख्य इन्द्र तथा हविष्यमान, वरिष्ठ, अरुणतनय निश्चर, अनघ, विष्टि व अग्नि देव सप्तर्षि होंगे। पुत्रों में सर्वभग, सुशर्मा, पुरुदह, हेमधन्वा आदि के नाम प्रसिद्ध हैं।

बारहवें मन्वन्तर की चर्चा करते हुए श्री मार्कण्डेय जी ने कहा—यह मन्वन्तर रुद्रपुत्र सावर्णि का होगा। सुधर्मा, सुमना, हरित, रोहित और सुवर्ण पांच देवगण होंगे और प्रत्येक गण में दस देवता होंगे। ऋतधामा इन्द्र बनेंगे। द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्ति, तपोरति, तपोधृति सप्तर्षियों के पद को सुशोभित करेंगे। देववान, उपदेव, देवश्रेष्ठ, विपश्चित् आदि इन मनु के पुत्र होंगे।

अन्त में तेरहवें मन्वन्तर का वर्णन करते हुए मार्कण्डेय जी ने कहा—यह तेरहवां मन्वन्तर रौच्य है। सुधर्मा, सुकर्मा, सुशर्मा आदि इसके देवगण होंगे। महाबली एवं महावीर्यवान् दिवस्पति इन्द्र होंगे। धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा, निष्प्रकम्प ये सप्तर्षि होंगे। विचित्र, चित्रसेन, निर्भय, नियति, सुनेत्र, दृढ़, क्षत्र-बुद्धि और सुव्रत आदि रौच्य मुनि के पुत्र होंगे।

मार्कण्डेय जी ने कहा—महर्षे! आप मुझसे मन्वन्तरों के उपरान्त अब अन्य प्रसंग सुनो। एक समय रुचि नामक प्रजापति ममताहीन होकर घर-द्वार को छोड़कर निर्विकार भाव से पर्यटन करते थे। वे जहां रात होती, वहीं विश्राम-शयन कर लेते थे। उनकी इस दशा को देखकर पितरों ने प्रकट होकर उनसे कहा—वत्स! तुम इस प्रकार विवाह, परिग्रह विहीन होकर जीवन यापन करते हुए अपना एवं हमारा अहित ही कर कर रहे हो। हमारा तुम्हें परामर्श है कि तुम विवाह करके उपयुक्त कर्म करो तथा इससे अपना तथा हमारा कल्याण करो। रुचि बोले—पितृदेव! विवाह तथा परिग्रह से जीव केवल पंक-पयोधि में डूब जाता है और बन्धनों से बंध जाता है। कर्मबन्ध को वेदों में भी गर्हित कहा गया है। फिर आप लोग मुझे विवाह करने और कर्मबन्ध में बंध जाने को क्यों बाध्य कर रहे हैं?

पितरों ने उत्तर दिया—पुत्र! इसमें सन्देह नहीं कि कर्ममार्ग अविद्या है, किन्तु विद्या की प्राप्ति भी तो कर्म द्वारा ही होती है। समस्त कर्त्तव्य कर्मों की उपेक्षा करके मुक्ति के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ का असत्कर्म है, जो मनुष्य की अधोगति का ही कारण है, अतः तुम विवाह करके विधिवत् कर्म करते हुए हमें तृप्त करो।

रुचि ने शंका प्रकट की—पूज्यपाद ! इस वृद्धावस्था में मुझ निर्धन को कौन अपनी कन्या देगा ? इसका उत्तर दिये बिना पितरों ने कहा—हमारी अवज्ञा करने पर तुम्हारे कल्याण का मार्ग प्रशस्त नहीं होगा। यह कहकर पितर दीपक की निर्वाणोन्मुख शिखावत् ओझल हो गये। रुचि भी खिन्न व उद्विग्न-भाव से इधर-उधर भटकते रहे। उनकी समझ में नहीं आ रहा था कि क्या किया जाए। अन्ततः उन्होंने तपस्या द्वारा ब्रह्मा जी को प्रसन्न करने का निश्चय किया। उनकी तपस्या से प्रसन्न हुए ब्रह्मा जी ने मूर्त होकर उनसे उनकी अभिलाषा पूछी। सम्पूर्ण वृत्तान्त जान लेने पर ब्रह्मा जी ने कहा—वत्स ! तुम्हें प्रजापति होना है और प्रजा की सृष्टि करनी है। इसी कारण तुम्हारे पितर तुमसे विवाह तथा परिग्रह का आग्रह कर रहे हैं। यह उचित ही है, इसमें वे तुम्हारे सहायक भी हो सकते है। उन्हें तुम प्रसन्न करो। ब्रह्मा जी के कथनानुसार रुचि ने एकान्त नदी तट पर पितरों की स्तुति की और मन्त्रोच्चारपूर्वक उनका श्राद्ध-तर्पण किया। उनकी सर्वविद्यमानता, सर्वपूज्यता एवं पावनता का वर्णन करते हुए उन्होंने उनसे अपनी रक्षा तथा कल्याण करने की याचना की।

उनकी इस श्रद्धा-भक्ति, उनके श्राद्ध-तर्पण एवं गुणानुवाद से प्रसन्न होकर एक दिव्य प्रभा-मण्डित तेज प्रकट हुआ। रुचि ने उस तेज-पुंज की स्तुति करते हुए कहा—मैं दिव्य तेज, दिव्य चक्षु, निराकार पितरों को प्रणाम करता हूं। गगन, पृथ्वी, पाताल, जलस्थलव्यापी सर्व कामदाता तथा ग्रह-नक्षत्रों, अग्नि, वायु आदि देवों द्वारा पूजित पितरों को मेरा प्रणाम है। प्रजापति आदि सप्तगणों में स्थित स्वयं, भूब्रह्मा के स्वरूप सभी पितरों को बारम्बार प्रणाम करता हूं और उनसे प्रसन्न होने की प्रार्थना करता हूं। तब पितरों ने अलग-अलग प्रकट होकर रुचि से वरदान मांगने को कहा। रुचि बोले—ब्रह्मा जी ने मुझे प्रजापति बनने का आदेश दिया है, अतः आप लोग मुझे पुत्रोत्पन्न करने में समर्थ किसी सुन्दरी कन्या को वधूरूप में उपलब्ध कराने की कृपा करें। पितरों ने कहा—पुत्र ! तुम्हारी अभी और इसी स्थल पर एक दिव्य सुन्दरी से भेंट होगी तथा उसके गर्भ से एक महाप्रतापी पुत्र का जन्म होगा, जो तुम्हारे नाम से रौच्य मनु कहलाएगा। उस मनु के भी अनेक प्रजापालक और पराक्रमी पुत्र होंगे। तुम भी चार प्रकार की प्रजा उत्पन्न करके प्रजापति पद प्राप्त करोगे और क्षीणाधिकार होने पर सिद्धिलाभ करोगे। तुम्हारे द्वारा हमारे प्रति कहे गये इस स्तोत्र का जो कोई भी पाठ करेगा, उसे अक्षय श्राद्ध का

लाभ होगा तथा श्राद्ध में की गई सभी त्रुटियों का इससे परिहार हो जाएगा। जिस श्राद्ध में इस सुखप्रद स्तोत्र को पढ़ा जाएगा, वह हेमन्त-कालीन होने पर बारह वर्ष, शीतकालीन होने पर चौबीस वर्ष, वसन्त तथा ग्रीष्मकालीन होने पर सोलह वर्षपर्यन्त हमें तृप्ति प्रदान करने वाला होगा। जिस घर में यह स्तोत्र रखा हो, वहां श्राद्धकाल में हम सदा उपस्थित रहते हैं, अतः तुम इसका पाठ किया करो। ऐसा कह कर पितर गण अपने धाम को चले गए।

मार्कण्डेय जी बोले—विप्रश्रेष्ठ! पितरों के स्व-स्व लोकों को गमन करने के उपरान्त, प्रम्लोचा नाम वाली एक क्षीणकाय देवांगना जल से बाहर निकली। वह सुन्दरी रुचि के निकट पहुंच कर बोली – हे महाभाग! वरुणदेव के पुत्र पुष्कर से मुझे एक परम सुन्दरी कन्या की प्राप्ति हुई है। मेरी गर्भजात कन्या वरवर्णिनी के उदर से आपके वंशधर का जन्म होगा, अतः आप उससे विवाह कर लीजिए। रुचि ने अप्सरा के प्रस्ताव को स्वीकृति दे दी। मुनियों ने विधि-विधान पूर्वक रुचि का उस सुरूपिणी से विवाह सम्पन्न कराया। उसके गर्भ से यथासमय रौच्य मनु का जन्म हुआ। उनके मन्वन्तर में जो देवता, ऋषि आदि हुए उनका सम्यक् वणन किया जा चुका है। इसके उपरान्त भौत्य मनु की उत्पत्ति हुई जिनके विषय में मैं यहां पर कहता हूं। महर्षि अंगिरा के अति क्रोधी, कटु भावी किन्तु अमित तेजस्वी शिष्य थे जिनका नाम भूति था। उनके आश्रम में भवन, रवि एवं मेघ कभी अपना विकट रूप नहीं दिखलाते थे। सभी ऋतुएं उनकी आज्ञा का पालन करती थीं। वे मुनि किसी प्रकार का कष्ट सहन नहीं कर सकते थे, किन्तु सन्तानहीन होने के कारण उन्होंने पुत्रप्राप्ति हेतु वन में जाकर कठोर साधना करने का निश्चय किया। वे अपनी मनोऽभिलाषा की पूर्ति हेतु तप करने लगे, किन्तु पर्याप्त समय बीत जाने पर भी उनकी इच्छा पूर्ण न हुई। फलतः निराश होकर उन्होंने तपस्या का त्याग कर दिया। इसी मध्य उन्हें अपने कनिष्ठ भ्राता सुवर्चा से यज्ञ का निन्मत्रण प्राप्त हुआ। उन्होंने अपने परम प्रिय शिष्य शान्ति को आश्रम की देखभाल का एवं यज्ञाग्नि को निरन्तर प्रज्वलित रखने का आदेश दिया और स्वयं सुवर्चा के यज्ञ में भाग लेने चल पड़े। शान्ति ने गुरुआज्ञा का पूर्ण पालन किया किन्तु समिधा आदि की व्यवस्था करने के पूर्व ही भूति द्वारा प्रज्वलित वह्नि शान्त हो गई। यह देख कर वे बहुत अगाध दुःखी एवं भयाकुल हुए। वे अपने गुरु के स्वभाव एवं उनकी शक्ति (सर्वज्ञता) को जानते थे, अतः जब उन्हें अन्य कोई उपचार

दृष्टिगत न हुआ तो उन्होंने जातवेद अग्नि की स्तुति की। उनके सर्व-रूप प्रभाव, शक्ति-क्षमता, कृपादृष्टि तथा भक्तवत्सलता आदि का वर्णन करते हुए उन्होंने पवित्र स्तोत्र का पाठ किया और रक्षा करने की प्रार्थना की। उनकी स्तुति से प्रसन्न वह्नि-देव ने शीघ्र ही प्रकट हो कर शान्ति से वरदान मांगने को कहा। इस पर वह विनम्र स्वर में बोला—प्रभो! आपके दर्शन ही मेरे लिए सबसे बड़ा वरदान है। फिर भी यदि आप प्रसन्न हैं तो मुझे यह वरदान दीजिये कि मेरे गुरु द्वारा प्रज्वलित अग्नि पुनः स्वतः जल जाए, मेरे पुत्रहीन गुरु को पुत्र की प्राप्ति हो तथा अपने उस भावी पुत्र के समान ही सबके प्रति उनके मन में स्नेह भाव बना रहे। उस सद्शिष्य की निःस्वार्थता से और भी अधिक प्रसन्न होकर अग्निदेव ने उसको तीनों वरदान प्रदान किए तथा कहा—तुम्हारे गुरु का पुत्र भौत्य मनु के नाम से भौत्य मन्वन्तर का सूत्रधार होगा। इसके उपरान्त वे अन्तर्द्धान हो गये।

आश्रम में लौट आने पर भूति ऋषि द्वारा शिष्य से उसके परिवर्तित मनोभाव का कारण पूछने पर शान्ति ने उन्हें सारा वृत्तान्त कह सुनाया। आनन्द से गद्गद् होकर गुरु ने उस शिष्य पर अपना सम्पूर्ण स्नेह उंडेलते हुए उसे सभी वेदों का सांगोपांग ज्ञान कराया। मार्कण्डेय जी बोले—विप्रप्रवर! इन्हीं भूति के पुत्र भौत्य मनु हुए, जिनका मन्वन्तर भौत्य मन्वन्तर कहलाता है। चाक्षुष, कनिष्ठ, पवित्र, भ्राजिर और धारावृक इस काल के देवगण तथा शुचि इन्द्र होंगे। सप्तर्षियों में आग्नीध्र अग्निबाहु, शुचि, मुक्ति, माधव, शक्र तथा अजित की गणना होगी। इस मनु के पुत्रों के नाम—गुरु, गम्भीर, वृघ्न, भरत, अनुग्रह, स्त्रीमणि, प्रतीर, विष्णु, संक्रमण व तेजोपम सुबल—होंगे। महर्षे! इन सभी मन्वन्तरों का श्रवण करने से व्यक्ति को परम पुण्य का लाभ होता है तथा उसका कुल क्षय नहीं होता।

निम्नोक्त मन्वन्तरों के पठन-श्रवण से निम्नोक्त फल की प्राप्ति होती है—

क्रमसंख्या	मन्वन्तर	फल प्राप्ति
१.	स्वायम्भुव	धर्म-लाभ
२.	स्वारोचिष	सम्पूर्ण मनोरथ सिद्धि
३.	औत्तम	धन-प्राप्ति
४.	तामस	ज्ञान-प्राप्ति
५.	रैवत	रूपवती स्त्रीलाभ

६.	चाक्षुष	आरोग्यता
७.	वैवस्वत	बल
८.	सूर्य सावर्णिक	गुण
९.	ब्रह्म सावर्णिक	पुत्र-पौत्रादि
१०.	धर्म सावर्णिक	सुख-शान्ति
११.	रुद्र सावर्णिक	यश, विजय
१२.	दक्ष सावर्णिक	शत्रु-नाश
१३.	रौच्य	विशुद्ध ज्ञान-प्राप्ति
१४.	भौत्य	सन्तति-वृद्धि

क्रौष्टुकि ने कहा—भगवन् ! इतना सब ज्ञान प्राप्त कर लेने पर अब मैं ब्रह्मा जी के परवर्ती सभी राजाओं एवं उनके वंशों के विषय में जानने की इच्छा रखता हूं। मार्कण्डेय जी बोले—द्विजश्रेष्ठ ! मैं यह परम पावन व पुण्यदायी वृत्तान्त आपको सुनाता हूं, आप सावधान होकर सुनें।

पूर्व काल में ब्रह्मा जी ने विभिन्न प्रकार की प्रजा रचने का निश्चय किया। फलतः उन्होंने अपने दाहिने अंगूठे से दक्ष को और बायें से दक्ष-भार्या को पैदा किया। दक्ष प्रजापति की कन्या का नाम अदिति था। अदिति एवं कश्यप की सन्तान के रूप में सूर्यदेव मार्तण्ड का जन्म हुआ। क्रौष्टुकि ने जिज्ञासा प्रकट की कि किन कारणों से सूर्यदेव अदिति के गर्भ से जन्मे एवं माता-पिता सहित अन्य सब के पूज्य आराध्य हुए? मार्कण्डेय जी बोले—सूर्य परमा, विद्या, ज्योतिः, शाश्वती, दीप्ति, कैवल्य ज्ञान, आविर्भाव, प्राकाम्य, संवित्, बोध, अवगति, स्मृति एवं विज्ञानरूप में भी विद्यमान हैं। सृष्टि से पूर्व इस शून्य में महा-अन्धकार के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। तब विशालकाय, क्षयरहित, परमकारण-स्वरूप एक अण्ड उत्पन्न हुआ, जिसके मध्य ब्रह्मा जी विद्यमान थे। उस अण्डे का भेदन करते हुए ब्रह्मा जी ने 'ॐ' का उच्चारण किया। इसी 'ॐ' से प्रथम 'भू', पुनः 'भुवः' तथा अन्त में 'स्वः' की उत्पत्ति हुई। यही त्रिव्याहृति भगवान् सूर्य का स्वरूप है। इस प्रकार सूक्ष्म से स्थूल की रचना हुई और महः, जन, तपः तथा सत्य लोक बने। सूर्य के ये सभी सात रूप स्थूल हैं तथा कभी प्रकट व कभी अप्रकट होते हैं। हे विप्र ! इस सृष्टि के आदि एवं अन्त में जो परम सूक्ष्म, रूपहीन परमात्मा स्थित रहता है वही 'ॐ' कार है तथा भगवान् मार्तण्ड का शरीर भी वही है।

अण्ड के फटने पर उसमें से अजन्मा एवं अव्यक्त ब्रह्मा जी निकले।

उनके चार मुखों से चार वेद निर्गत हुए। पूर्व मुख से ऋक्, दक्षिण से यजु, पश्चिम से साम तथा उत्तर से अथर्व वेद प्रकट हुआ। इनमें ऋग् रजोगुण, यजु सतोगुण, साम तमोगुण तथा अथर्व वेद सतो तथा तमोगुण युक्त हैं। अनन्तर ऋक, यजु एवं साम के क्रमशः शान्तिक, पौष्टिक तथा आभिचारिक विषय अथर्ववेद में समाविष्ट हो गये। अब अन्धकार नष्ट हो गया तथा ऊद्ध्र्व, अध तथा तिर्यक् दिशा (देश) उत्पन्न हुए। तदुपरान्त छान्दस ऊंकार से उत्तम तेजधारी बना। आदि में यही प्रकाश था, अतः उसे आदित्य कहा जाता है। यह इस सृष्टि का अव्यया-त्मक कारण है। ऋग-यजु-साम ही प्रातः, मध्याह्न व अपरान्ह कहलाते हैं। सृष्टिकाल में ब्रह्मा ऋक्मय, स्थिति काल में विष्णु यजुर्मय तथा संहार काल में रुद्र साममय कहे गये हैं अतः अपरान्ह काल अशुचि माना जाता है और केवल पितर कार्यों के उपयुक्त कहा गया है।

इस प्रकार भगवान् आदित्य हो सर्ववेद एवं त्रिदेव रूप हैं। वे सत्व, रज तथा तमोगुणमय हैं। वे सर्वदा देवात्माओं द्वारा पूज्य, निराकार, होते हुए भी प्राणिरूप में मूर्तिमान, ज्योतिस्वरूप, विश्व के आश्रय, अवेद्य वेदधर्मा तथा वेदान्तगम्य होने से श्रेष्ठतम हैं।

भगवान् मार्तण्ड के तेज से ऊर्ध्व तथा अधःलोक के सभी प्राणी दुःखी तथा संतप्त हो उठे। उनके ताप से प्रजापति ब्रह्मा को यह चिन्ता सताने लगी कि इस तेज में उनकी सृष्टि किस प्रकार बनी रह सकेगी, जल शोषित होने पर तो सृष्टि की कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस चिन्ता से आतुर होकर उन्होंने स्वयं रवि की स्तुति की। वे बोले—हे रविदेव! आप विश्व के आत्म-स्वरूप हैं, विश्व में विद्यमान, परम योगियों द्वारा ध्यायित ज्योतिःस्वरूप हैं। मैं आपको नमन करता हूं। आप अचिन्त्य-शक्ति, ऋग्देवमय, यजुर्वेद के आधार, सामवेद की उत्पत्ति के कारण, परम ब्रह्म-स्वरूप, परम-वेद्य, आद्या-शक्ति रूप हैं। आप की शक्ति से ही मैं सभी प्रकार की सृष्टि की रचना करता हूं। स्थिति एवं प्रलय में भी आप ही मेरी सहायता करते हैं। आपही यज्ञार्चित, चिन्तनीय तथा परम-ब्रह्म हैं, आपको मेरा नमस्कार है। अब मैं सृष्टि करने को उद्यत हूं, अतः आप अपना प्रचण्ड कम कीजिए, जिससे कि सृष्टि बनी रह सके। ब्रह्मा जी की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् भास्कर ने अपना तेज क्षीण करके अल्पांश ही धारण किया। तब सृष्टिकर्ता ने पूर्व के समान सृष्टि रचना करते हुए सुरासुर, नर-नारी, पशु-पक्षी, वृक्ष-लता तथा स्वर्ग-नरक आदि की रचना की।

ब्रह्मा जी के एक पुत्र मरीचि के प्रसिद्ध पुत्र कश्यप ने दक्ष की तेरह कन्याओं को भार्या रूप में अपनाया। उनकी अदिति नाम्नी पत्नी से देवताओं की, दिति से दैत्यों की, दनु से दनुओं की, विनता से गरुड़ तथा अरुण की, खगा से यक्ष तथा राक्षसों की, कद्रू से नागों की, मुनि से गन्धर्वों की, क्रोध से कुल्यागण की, रिष्टा से अप्सराओं की, इरा से ऐरावत आदि गजों की, ताम्रा से श्येनों आदि की, इला से पादपगण की तथा प्रथा से पतंगों आदि की उत्पत्ति हुई। इनमें से देवगण ही प्रधान हैं तथा ब्रह्मा जी द्वारा मान्य तथा यज्ञाधिकारी के रूप में स्वीकृत भी, किन्तु दैत्यों, दानवों तथा राक्षसों ने उनका विरोध किया और फलतः एक सौ वर्षपर्यन्त देवताओं से उनका दिव्य-युद्ध हुआ। इसमें देवता पराजित हुए और उनकी जननी दुःखी भाव से भगवान् भास्कर को प्रसन्न करने के लिए उनकी स्तुति करने लगी। सूर्यनारायण की स्तुति करते हुए अदिति बोली—हे ! देवाधिदेव ! तुम सूक्ष्म, सुन्दर, सुवर्णवदन, ज्योतिःस्वरूप, अशेष, देवों-पितरादि को तृप्त करने वाले सर्वस्व, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी एवं सर्वरूप हो। तुम्हें मैं बारम्बार प्रणाम करती हूं। मुझे दर्शन दो। उसकी भक्ति-स्तुति से प्रसन्न होकर सूर्यदेव भूमि पर प्रकट हुए और तब अदिति ने उनसे प्रार्थना की कि अपने प्राकृतिक रूप में उसे दर्शन देने की कृपा करें जिससे वह उनके साक्षात प्रत्यक्ष रूप के दर्शन कर सके।

मार्कण्डेय जी बोले—द्विज! तत्पश्चात् भगवान् रवि अपने तेजोदीप्त प्रभामण्डल के मध्य भाग से ताम्रवर्ण में प्रकट हुए। उन्हें इस रूप में देख कर देवी अदिति ने उन्हें अपने पुत्रों के पराभव एवं यज्ञादि से वंचित हो जाने का वृत्तान्त सुना कर उनसे विनय की कि आप अंश-रूप में मेरे गर्भ से जन्म धारण कर देवताओं के सहायक बनें तथा दैत्यों व दानवों का विनाश कीजिए। भगवान् भुवन भास्कर 'तथाऽस्तु' कह कर अन्तर्द्धान हो गये। कुछ काल के अनन्तर वे सौषुम्ण नामक रश्मि के शतांश के रूप में अतिथि के गर्भ में आ गये। तब वह (अदिति) व्रत-उपवास आदि से उस गर्भ की रक्षा करने लगी। यह देखकर एक दिन कश्यप ने कहा—देवि ! मुझे लगता है कि तुम व्रत आदि से इस गर्भस्थ शिशु को मार डालोगी। इस पर अदिति को क्रोध हो आया और उसने उस गर्भ को त्याग दिया। उसके रूपादि को देखकर कश्यप जी ने आद्य ऋक्मंत्रों से उसकी स्तुति की और तब खिले कमल के समान वह दिव्य रूप गर्भ से बाहर निकल आये। ऋषि द्वारा 'मारित' कहे जाने के कारण वे 'मार्तण्ड' नाम से प्रसिद्ध हुए। तब देवराज इन्द्र ने असुरों को युद्ध के लिए ललकारा

और उनके साथ घनघोर युद्ध किया। इस युद्ध में मार्तण्ड ने अपने तेज से देवशत्रु दानवों को भस्म कर दिया, फलतः देवगण अति प्रसन्न व हर्षोल्लसित हुए।

अनन्तर प्रजापति विश्वकर्मा ने उन्हें (मार्तण्ड को) अपनी संज्ञा नामक कन्या प्रदान की। वह सारा प्रसंग मैं पूर्व ही आपको बतला चुका हूं। (यहां इतना और बतला दूं कि यम के मातृ-शाप को तो उनके पिता सूर्य ने भी दूर करने में अपनी असमर्थता प्रकट की थी, पुत्रणीय कृमि द्वारा उनके चरण का मांस भूमि पर भेज कर उन्होंने उस शाप को कम कर दिया था)। जब वे अपने श्वसुर के घर पहुंचे तो वहां उनके क्रोध को देखकर उनके श्वसुर विश्वकर्मा ने उनसे कहा— हे दिवापते ! यदि आप आदेश करें तो मैं आपको कोमल रूप प्रदान करूं। उनकी आज्ञा पाकर विश्वकर्मा ने उन्हें भूमियन्त्र में आरोपित किया तथा उन्हें कान्तिमान् रूप देने का यत्न किया। इस प्रक्रिया से (वन-सीर वेष्ठित भूतल) महा प्रलय का दृश्य उपस्थित हो गया सागर आकाश में मिल गया व ग्रह-नक्षत्र आदि पातालगामी होने लगे। पवन मेघ आदि का महाघोर गर्जन त्रिलोक को प्रकम्पित करने लगा। तब उन्हें (मार्तण्ड को) शान्त करने हेतु देवताओं तथा ऋषि-मुनियों आदि ने उनकी स्तुति में स्तोत्र पढ़े। इसी प्रकार यक्ष किन्नर-गन्धर्व, विद्याधर, पन्नग आदि ने भी नतमस्तक होकर उन्हें प्रणाम किया और उनसे क्रोध त्यागने की प्रार्थना की। हाहा, हूहू, नारद, तुम्बरू आदि गायनाचार्यों ने गायन एवं संगीत द्वारा, तथा घृताची, विश्वाची, तिलोत्तमा, उर्वशी, मेनका, रम्भा, सहजन्या, आदि अप्सराओं ने हाव-भावपूर्वक लास्य-नृत्य के प्रदर्शन करते हुए, नानाविध-वाद्य-यन्त्रादि के स्वरों द्वारा सहस्त्रांशु को प्रसन्न करने का यत्न किया। तब विश्वकर्मा ने शनैः शनैः रवि का तेज कम किया। सूर्यदेव की इस कथा को श्रवण करने से इस लोक में दिव्य भोगों की और अन्त में सूर्यलोक की प्राप्ति होती है।

तदुपरान्त विश्वकर्मा ने भक्ति-भावनापूर्वक सूर्यदेव की स्तुति की। उन्होंने कहा—प्रणत मानवों का हित एवं उन पर कृपा करने वाले, सप्ताश्वशाली, कमलकुलाधिपति, तिमिरोच्छेदक, परम तेजस्वी विवस्वान् को मेरा नमस्कार। स्वयं जन्मोत्पत्ति से रहित होते हुए भी आप त्रिलोक को उत्पन्न करने वाले भूतात्मा, रश्मिपति, वृष, महाकारुणिक एवं दृष्टि के कारणरूप हैं। आपको मेरा शत-शत प्रणाम

है। ज्ञानियों के हितैषी, स्वयंभू, अमित तेजस्वी भगवान् विवस्वान् को मेरा प्रणाम! अंधकारविदारक, प्रकाशपति मिहिरदेव को मेरा प्रणाम। पितरों-देवों को एक साथ तृप्ति प्रदान करने वाले तेजोपम, आपको बारम्बार प्रणाम निवेदन करके लोक-कल्याण हेतु मैंने आपका शरीर (वपु)बनाया (लिखा)है। मैं आपकी चरण रज से अत्यन्त पवित्र हुआ हूं। सम्पूर्ण विश्व के कारणरूप त्रिभुवन पवित्रकारी, तेजस्वी, अखिल जगत प्रदीप, विश्वद्रष्टा को मैं पुनः प्रणाम करता हूं।

हे द्विजदेव ! रवि के शेष अंग से निर्मित होने वाले आयुध पालकी आदि तथा उत्तर कुरुदेश में संज्ञा से सूर्यदेव के मिलन और उसके परि-णामों का वर्णन मैं पहले ही कर चुका हूं।

क्रौष्टुकी ने कहा—भगवन् ! आपके मुखारविन्द से अब भगवान् भास्कर के माहात्म्य का वर्णन सुनने की मेरी इच्छा बलवती हो रही है। कृपापूर्वक उसे भी सुनाने का कष्ट कीजिए।

मार्कण्डेय जी बोले—राजा दम के पुत्र राजवर्द्धन थे। उनका शासन सम्पूर्ण पृथ्वी पर था। वे अति धर्मात्मा, शक्तिशाली, पवित्र एवं प्रजावत्सल थे, अतः उनके शासनकाल में आधि-व्याधि अथवा अन्य कोई उपसर्ग (उत्पात) प्राणियों को दुखी नहीं करते थे। उनकी पत्नी का नाम मानिनी था और वह दक्षिणाधिपति विदूरथ की पुत्री थी। एक बार यही महाराजा अन्य राजाओं तथा गण्यमान्य नागरिकों आदि के मध्य बैठे हुए थे। रानी उनके केशों पर तेल मर्दन कर रही थी कि उसने राजा के शिर में एक श्वेत केश को देखा। उसे देखकर रानी रुदन करने लगी। राजा ने जब इसका कारण पूछा तो उसने इसका कारण बतला दिया। इस पर वे हंसते हुए बोले—हे सुभगे ! यह रोने की बात नहीं है। सृष्टि में सभी में आयु आदि की वृद्धि के चिह्न प्रकट होते हैं। फिर मैंने तो तुम्हारे साथ सभी पुण्य-धर्म-कर्म एवं भोग सम्पादित कर लिये हैं। इस श्वेत केश से प्रेरणा पाकर अब मैं वन में जाकर तप-साधना करूंगा। इस पर उपस्थित प्रजाजनों ने राजा से निवेदन किया—महाराज ! आप अपना यह विचार त्याग दें। हमने सात हजार वर्ष तक आपके सुशासन का अमृत पान किया है। अब हमारा जीवन भी अल्प शेष है। आप इस शेष अवधि में हमारा त्याग मत कीजिये। किन्तु राजा अपने निश्चय पर दृढ़ रहे और उन्होंने राजकुमार के राजतिलक की तैयारियां करने की आज्ञा दे दी। ज्ञानी-ध्यानी जन भी जब राजा के इस निश्चय से मोहग्रस्त हो गये तो

उन्होंने परस्पर विचार-विमर्श कर भगवान् सूर्य की आराधना द्वारा उन्हें प्रसन्न करने का निश्चय किया। तब सब लोग भिन्न-भिन्न प्रकार के विधि-विधान से सूर्यदेव की स्तुति, वन्दना तथा उपासया करने लगे। इसी बीच सुदामा नामक एक गन्धर्व ने उन्हें बतलाला कि तुम लोग कामरूप पर्वत पर स्थित गुह विशाल में जाकर स्तवन द्वारा सूर्य भगवान् को प्रसन्न करो। सभी नागरिकों ने वैसा ही किया तथा भगवान् भास्कर के मन्दिर को देखकर परम प्रमुदित एवं भक्ति-भावपूर्वक उनका स्तवन किया। अन्त में भगवान् दिवानाथ ने प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिये और उनसे अपना मनोरथ पूर्ण करने हेतु वरदान मांगने को कहा।

सूर्यदेव को प्रसन्न जानकर नागरिकों ने घुटने टेक कर उन्हें प्रणाम किया तथा निवेदन करते हुए कहा—भगवन् ! हमारे पुण्यात्मा नृपति राजवर्द्धन को रोगरहित, शत्रुरहित-तथा सम्पदायुक्त बनाते हुए उन्हें दस सहस्त्र वर्ष की आयु प्रदान कीजिए जिससे कि वे हम पर चिरकाल तक सुशासन का पुण्यलाभ करते रहें। सूर्यदेव 'तथाऽस्तु' कह कर अन्तर्द्धान हो गये। तब सब लोग हर्षोल्लसित होकर राजा के पास पहुंचे तथा उन्हें यह सुसंवाद सुनाया। इसे सुन कर रानी के तो आनन्द की सीमा न रही किन्तु राजा उदासीन ही रहे। रानी के बारम्बार पूछने पर वे बोले—देवि ! यह प्रसन्न होने की बात नहीं है। मेरे सब सम्बन्धी, तुम, मेरे पुत्र-पुत्रियां तथा प्रिय प्रजाजन तो काल कवलित हों और मैं दीर्घ जीवन भोगता रहूं। जब तक ये सब भी मेरे समान दीर्घजीवी न हों, तब तक मैं कैसे आनन्दित हो सकता हूं ? अतः इनके लिए दीर्घ जीवन की कामना से मैं तपस्या द्वारा वरदानलाभ करूंगा। यदि ऐसा न कर सका तो आजीवन वन्य प्रदेश में ही तपोरत रहकर प्राणोत्सर्ग कर दूंगा। राजा की इस बात से सहमत होकर रानी भी उनके साथ तपस्या करने चल पड़ी। एक वर्ष तक उन दोनों ने कठोर तपस्या कर सूर्यदेव को प्रसन्न करके उनसे मनोवांछित फल प्राप्त कर लिया। तब वे न्याय, धर्म निष्ठा तथा स्नेह भाव से अपनी प्रजा पर शासन करने लगे। यह देखकर भृगुवंशीय प्रमत्ति ऋषि ने कहा— सूर्यदेव का यह कैसा पुण्य प्रताप है कि राजा राजवर्द्धन के साथ-साथ उसकी प्रजा सुख-सम्पदापूर्ण दीर्घ जीवन भोग रही है।

ऐसे महिमावान् भगवान् मार्तण्ड के महाप्रतापी, सर्व शास्त्रज्ञ पुत्र मनु ने स्वानुरूप एवं विशिष्ट गुणोपेत पुत्रप्राप्ति हेतु वरुणमित्र नामक यज्ञ का आयोजन किया किन्तु होता के तनिक अपचार से पुत्र के स्थान

पर उन्हें सुमेधा कन्या की प्राप्ति हुई। उसका नाम इला रक्खा गया किन्तु पुत्र-कामना से प्रेरित मनु ने सन्तानदाता से कहा—आपके प्रताप से मुझे कन्या की प्राप्ति हुई है, जबकि मैंने पुत्रकामना से यज्ञ किया था, अतः आप इसे पुत्र में बदल दें। तब वही कन्या पुत्ररूप में बदल जाकर सुद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुई। सुद्युम्न एक बार मृगया करते हुए वन में विचरण कर रहा था कि शापवश उसे पुनः स्त्रीरूप में आना पड़ा। इस बीच सोमपुत्र बुध उस पर मुग्ध हो गया और उसके प्रभाव से उसके गर्भ से एक पुत्र का जन्म हुआ जो पुरुरवा के नाम से प्रसिद्ध होकर चक्रवती सम्राट बना। पुरुरवा के अश्वमेध यज्ञ द्वारा शापमुक्त हो ने पुनः पुरुष रूप प्राप्त किया तथा उत्कल, विनय और गय नामक तीन पुत्रों का पिता बना। ये तीनों राज्य के अधिकारी बने तथा सुद्युम्न पुरुरवा को वशिष्ठ जी की आज्ञा से प्रतिष्ठानपुर का राज्य प्रदान किया गया।

मनु के एक पुत्र पृषध्र नाम से विख्यात हुए। वे भी एक बार मृगया हेतु वन में गये। बहुत देर तक भटकने और थके-मांदे होने पर भी उन्हें कोई मृगादि दृष्टिगत नहीं हुआ, जिससे वे निराश हो गये। उसी समय अग्निहोत्री ऋषि की होम-धेनु उन्हें लता झुरमुट में दृष्टिगत हुई। उसे कोई गवय (जंगली हिंसक गाय) समझ कर राजा ने उस पर शर-संधान किया, जिससे उस गौ की मृत्यु हो गई। यह देखकर गौपालक ऋषिपुत्र बाभ्रव्य क्रोधाभिभूत होकर कांपने लगा तथा उस राजा को शाप देने को उद्यत हो गया। इस पर राजा ने कहा - महर्षे! तुम जैसा क्रोध कर रहे हो वैसा तो तो क्षत्रियों तथा वैश्यों तक को शोभा नहीं देता। मैंने भूल से यह हत्या कर डाली है। इसके लिए शूद्रों जैसा यह क्रोध उचित नहीं। 'राजा के इन शब्दों को सुन मुनि पुत्र ने और भी उग्र होकर कहा— तुमने मुझे शूद्र कहा है। जाओ, तुम शूद्र-योनि में ही उत्पन्न होगे। प्रतिशाप देने को तत्पर नृपति और पुनः प्रतिशाप देने को उद्यत मुनिपुत्र के कुछ कहने से पूर्व ही उसके पिता (बाभ्रव्य) वहां पहुंच गये। उन्होंने अपने पुत्र से कहा— वत्स! ब्राह्मण को क्षमा ही शोभा देती है। वह अपना अनिष्ट करने वाले के प्रति भी क्षमाशील होता है। बिना सोचे-समझे दण्ड या शाप देना घोर अज्ञान व अधर्म-कर्म है। अतः शान्ति धारण करो। पिता का आदेश पाकर मुनि-पुत्र शान्त हो गए और इधर राजा ने भी मुनिपुत्र से क्षमा याचना की। मुनिपुत्र ने कहा --राजन्! मेरी सत्यनिष्ठा के कारण मेरा दिया हुआ शाप अन्यथा नहीं हो सकता, किन्तु मैं दूसरा शाप देने से विरत होता हूं। इतना कह

कर वह पिता के साथ आश्रम में लौट गया।

इसी शापवश राजा यथासमय शूद्र गति को प्राप्त हुआ।

मनुवंशी कारुष के सात सौ पुत्र हुए जिससे उनकी वंश-बेल शत-सहस्त्र रूप में विकसित हुई। दिष्टपुत्र नाभाग एक वैश्य तनया सुप्रभा पर लुब्ध होकर वैश्यगति को प्राप्त हुए। उससे उन्हें भनन्दन नामक पुत्र की प्राप्ति हुई। वह पितृ-आज्ञा से वैश्यवृत्ति में प्रवृत्त हुआ। भवन्दन नामक उस पुत्र को मां ने गोपालक बनने का आदेश दिया। माता की आज्ञा को मानकर पुत्र गो-पालन हेतु हिमालयवासी नीप नामक राजर्षि के निकट पहुंचा और उनके चरणारविन्दों की वन्दना करके उनसे पूछने लगा—राजर्षे! इस पृथ्वी पर तो प्रबल जाति के लोगों का अधिकार है, फिर भला मैं किस प्रकार पृथ्वीपालन और मातृ-आज्ञा का पालन करते हुए गो-पालन कर सकता हूं। इस सम्बन्ध में मुझे जो कुछ करना उचित है उसी का आप निदेश करें। तब राजर्षि नीप ने उसे शिष्यत्व प्रदान करके सर्व विद्याओं तथा शास्त्रादि में पारंगत बना दिया। गुरु-आश्रम से लौटकर भलन्दन अपने पितृव्य सुत के निकट जा कर बोला—भ्रातः! आधा राज्य मुझे दे दो किन्तु पितृव्य-पुत्र वसुरा ने कहा—तुम वैश्यपुत्र हो और तुम्हें शासन शोभा नहीं देता। इस पर भनन्दन ने उसे युद्ध में पराजित करके उसके सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया। तदुपरान्त उसने वह राज्य पिता के चरणों में समर्पित कर दिया। पिता ने कहा—मैं पिता की आज्ञानुसार वैश्यकर्म में प्रवृत्त हुआ हूं। अब उनकी अवज्ञा करके न तो उन्हें ही और न स्वयं को घोर पाप का भागीदार बनाना चाहता हूं। ऐसा करने से न तो मेरी मुक्ति होगी और न पिता की ही। अतः इस राज्य को या तो तुम्हीं भोगो या फिर जिनसे छीना है, उन्हें ही लौटा दो। इस पर सुप्रभा से हंसते हुए कहा—स्वामिन्! न तो आप वैश्य हैं और न मैं ही वैश्य हूं। हम दोनों ही क्षत्रिय हैं। प्राचीन काल में सुदेव नाम एक विख्यात राजा नृपेन्द्र व धूमाश्व के पुत्र नल उनके अन्तरंग सखा थे। एक बार वैशाख मास में राजा अपनी पत्नियों तथा सखाओं सहित आम्रकुञ्ज में मनोरंजनार्थ गये। वहां च्यवन ऋषि के पुत्र प्रमति की सुन्दर पत्नी पर आसक्त होकर राजा ने उसे प्राप्त करने का प्रयत्न किया। इस पर राजकन्या, वह ऋषिपत्नी, 'रक्षा करो 'रक्षा करो' चिल्लाने लगी। तभी ऋषि वहां जा पहुंचे। उन्होंने राजा तथा नल को देखकर राजा से कहा—राजन्! आप नृपति हैं, आप इस दुष्ट नल को दण्ड दीजिये। अपने सखा को इस विपत्ति से बचाने के लिए राजा ने इस प्रकार

से मिथ्या वचन कहे – मैं राजा नहीं वैश्य हूं। आप न्याय प्राप्त करने के लिए राजा के पास जाइये। ऋषि बोले—तुम राजा होते हुए आर्त्र स्त्री की रक्षा करने के स्थान पर मिथ्या वचन कह रहे हो, अतः तुम वैश्य ही बने रहोगे। तब उस ऋषि ने उस कामान्ध नल को शाप देकर भस्म कर दिया। यह देखकर ाजा को ऋषि के प्रताप का ज्ञान हुआ और उसने उनसे क्षमायाचना की। क्रोध शान्त होने पर ऋषि ने कहा—मेरे शाप का प्रभाव तो अवश्य रहेगा किन्तु जब कोई क्षत्रियकुमार तुम्हारी कन्या को बलपूर्वक अपहृत कर लेगा तो तुम्हारा क्षत्रियत्व वापिस आ जाएगा। मेरे पिता ही वह शापग्रस्त राजा हैं। मेरी कथा भी ऐसी ही है। मैं सुरथ नामक राजर्षि की कृपावती नाम वाली कन्या थी। अगस्त्य के शाप से वैश्य कुल में जन्मी और उन्हीं के शाप से तुम्हारे पुत्र द्वारा राज्य जीतने पर जातिस्मरा होकर पुनः क्षत्रियत्व को प्राप्त हुई हूं, अतः हम दोनों क्षत्रिय हैं तथा यह राज्य हमारा भोग्य है, त्याज्य नहीं।

पर इतना सब कहने-सुनने पर भी उस धर्मात्मा वैश्य ने राज्यत्व अंगीकार नहीं किया तथा अपने पुत्र से कहा कि तुम शासन करो और यदि चाहो तो उसे त्याग दो। पिता की आज्ञा का पालन करते हुए पुत्र ने शासन तन्त्र संभाल लिया तथा अत्यधिक निपुणता, धर्मपरायणता एवं नियमपूर्वक प्रशासन किया। फलतः उसके शासनकाल में एक भी पापी न रहा और न ही वर्णसंकर संतान उत्पन्न हुई। उसका एक परम प्रतापी पुत्र विश्वविख्यात हुआ। उसने कुजृम्भ का दमन कर विदूरथ की कन्या मुदावती –जो सौनन्दा भी कही जाती है--से विवाह किया था।

मार्कण्डेय जी ने कहा—ब्राह्मणश्रेष्ठ! अब मैं आपको मुदावती व वत्सप्री का विवाह प्रसंग सुनाता हूं, आप ध्यानपूर्वक सुनें। एक बार राजा विदूरथ वन से होकर जा रहे थे कि सहसा उनकी दृष्टि भूतल पर बने एक विवर पर पड़ी। उसे देख कर राजा ने सोचा, यह विवर पुरातन तो नहीं लगता तो फिर यह क्यों कर बना है? निश्चय ही यह पाताल का मार्ग है। जिस समय वे इस प्रकार चिन्ताग्रस्त हो रहे थे, तभी उन्हें सुव्रत नामक एक द्विज निर्जन में दृष्टिगत हुआ। उसने राजा को बतलाया, यह विवर विजृम्भ नामक राक्षस ने सुनन्द नामक मूशल से बनाया है। वह मूशल विश्वकर्मा द्वारा निर्मित एवं अति प्रभावशाली है। उस नीच कुजृम्भ के जृम्भ (जमुहाई) लेने से धरती-गगन कम्पित होते हैं, अतः उसे कुजृम्भ कहते हैं। वह उस मूशल से परम पराक्रमी बना हुआ है। यदि

कोई स्त्री उस मूशल का स्पर्श करे तो कुजृम्भ की शक्ति क्षीण हो सकती है, क्योंकि ऐसा करने से मूशल की शक्ति कुछ समय के लिए क्षीण पड़ जाती है किन्तु कुजृम्भ इस रहस्य को नहीं जानता। ग्राप उसे विजय किए बिना सुशासन नहीं कर सकते। द्विजराज यह सब कह कर वहां से चला गया ग्रौर राजा भी प्रासाद को लौट ग्राया। मन्त्रियों ग्रादि से विचार-विमर्श करके राजा ने कुजृम्भ पर विजय पाने का निश्चय किया। इसी बीच एक ग्रौर घटना घटित हो गई। कुजृम्भ ने सखियों के साथ विहार करती हुई राजकुमारी मुदावती का अपहरण कर लिया। ग्रब तो राजा विदूरथ के प्रकोप की सीमा न रही। उसने अपने दोनों पुत्रों को विशाल वाहिनी सहित उस दुष्टात्मा को विजय करने के लिए भेजा, किन्तु उसके मूशल के सामने किसी की एक न चली और दोनों राजकुमार सेना सहित उसके बन्दी बन गये। इससे निराश होकर विदूरथ ने प्रजा में घोषणा करा दी कि जो कोई कुजृम्भ को पराजित करके राजकुमारी ग्रौर राजकुमारों को छुड़ा लाएगा उसे मुदावती का पति बनने का गौरव पाप्त होगा। इसे सुनकर और राजा से ग्राज्ञा लेकर वत्सप्री उस भयानक दानव से युद्ध करने चल पड़ा। युद्ध में वत्सप्री कुजृम्भ से भारी पड़ा तो दानव ग्रपने रनिवास में रखे चमत्कारी मूशल को लेने गया। मुदावती ने उसे पूजन के व्याज से बारम्बार स्पर्श किया। जब उसे लेकर वह दानव युद्ध करने गया तो उसकी प्रभावहीनता के कारण वह उससे शत्रु का विनाश करने में ग्रसफल रहा। वह युद्ध-कौशल में वत्सप्री से इक्कीस था, फिर भी उसकी पराजय हुई ग्रौर वह मारा गया। वत्सप्री राजकुमारों, राजकुमारी ग्रौर सुनन्द नामक मूशल के सहित राजा विदूरथ के पास पहुंचा। पूर्व-वचनानुसार राजा ने मुदावती का विवाह वत्सप्री से कर दिया। सुनन्द मूशल को बारम्बार चूमने एवं स्पर्श करने के कारण राजकुमारी मुदावती भी सुनन्दा नाम से प्रसिद्ध हुई। राजा ने वत्सप्री के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा— वत्स! आज मैं तीन कारणों से परम प्रसन्न हुग्रा हूं। प्रथम, तुम्हें जामातृ रूप में पाकर, द्वितीय शत्रु के हत होने पर तथा तृतीय अपनी संतान के सकुशल लौटने पर। तदन्तर वत्सप्री भी मुदावती सहित आमोद-प्रमोद में रत हो गया तथा वयोवृद्ध पिता के काल-कवलित होने पर प्रजापालक और धर्मज्ञ राजा के रूप में शासन करना लगा। सुनन्दा बारह पुत्रों को जन्म देकर धन्य हो गई। उन पुत्रों के नाम थे प्रांशु, प्रवीर, शूर, सुचक, विक्रम, क्रम, बल, बलाक, चण्ड, प्रचण्ड, सुविक्रम तथा स्वरूप। इनमें ज्येष्ठतम प्रांशु नृपति बना ग्रौर ग्रन्य

भ्राता उनकी सेवा-सुश्रूषा में तत्पर रहे। उनके ही समय में ब्राह्मणादि द्वारा धन का अकूत त्याग करने से ही यह धरती वसुन्धरा नाम से प्रसिद्ध हुई। उस समय इतना धन एकत्रित हुआ कि जिसकी गणना असम्भव है। प्रांशु का एक पुत्र प्रजानि था। उसके द्वारा किये गए यज्ञों की संख्या इतनी अधिक थी कि उनसे शक्ति ग्रहण कर इन्द्र ने जम्भासुर तथा दानव बल जैसे शत्रुओं का संहार किया था। इन प्रजाति के पांच पुत्र थे, जिनमें खनित्र ही परम पराक्रमी, धर्मनिष्ठ, पर-कल्याण रत, मन, वचन तथा कर्म से परोपकारी राजा हुआ। वे सबको सदा क्षमाशील, मधुर एवं मिष्टभाषी, ईर्ष्या-द्वेष रहित रहने का उपदेश देता था। उसने अपने चार भ्राताओं को भी अलग-अलग दिशाओं में राजा बना कर उन्हें भी समानाधिकार से अलंकृत किया था। इनमें शौरि पूर्व का, उदावसु दक्षिण का, मुनि पश्चिम का और महारथी उत्तर के राज्य की देखभाल करते थे। इसी क्रम से सुहोत्र, कृशावर्त, प्रमति व वसिष्ठ इनके पुरोहित थे। महीपति खनित्र अपने सभी भ्राताओं से पुत्रवत् स्नेह रखते थे और वे भी उनके प्रति पूज्य-भाव धारण किये रहते थे। तभी शौरि के आमात्य विश्ववेदी के हृदय में स्वार्थ तथा द्वेष का उदय हुआ। उसने अपने राजा को चक्रवर्त्ती बनने के लिए उकसाया और इस दिशा में प्रयत्न करने की अनुमति भी प्राप्त कर ली। तब उसने तब साम, दण्ड और भेद नीति अपना कर तीनों भाईयों और पुरोहितों को अपने पक्ष में कर लिया। अब चारों पुरोहितों द्वारा प्रतिदिन किए गए भयानक आभिचारिक कृत्यों से चार महाभयानक, विकृतवदना कृत्याएं उत्पन्न हुईं और वे खनित्र का अन्त करने उसके निकट पहुंचीं किन्तु उसके पुण्यप्रताप से वे श्रीहत होकर लौट गईं और क्रोधाभिभूत हो कर उन्होंने पुरोहितों तथा विश्ववेदी मन्त्री को भस्म करके नामशेष कर दिया।

जब वसिष्ठ जी से यह सारा वृत्तान्त खनित्र को ज्ञात हुआ तो वह स्वयं को ही उत्तरदायी एवं हतभाग्य मानकर तीनों रानियों सहित वन में तप करने चला गया और ३५० वर्षों तक तप कर रानियों सहित उस दिव्य-लोक का अधिकारी बना, जहां शत अश्वमेध यज्ञों के कर्त्ता भी नहीं पहुंच पाते। उसके पश्चात् क्षुप्र राजपद पर प्रतिष्ठित हुआ।

खनित्रपुत्र क्षुप्र भी एक महाबली, यज्ञकर्त्ता, प्रजाहितकारी एवं धार्मिक राजा था। एक बार उसके चारणों ने उससे ब्रह्मापुत्र का वर्णन करते हुए कहा कि आप भो वैसे ही हैं। वे महाराज भी ब्राह्मण से कर नहीं लेते थे। इस पर राजा ने यथार्थ में उसके समान बनने का

निश्चय किया। उसने तब तक ब्राह्मणों से जितना कर लिया था, वह सब उन्हें वापिस कर दिया और प्रत्येक शस्यकाल में तीन-तीन यज्ञों का आयोजन किया। उसके पुण्य कार्यों से सारी प्रजा सुखी थी। उसकी पत्नी विदर्भकुमारी नन्दिनी विविंश ने नामक एक पुत्र को जन्म दिया, जो अपने पिता के समान ही आचरणशील था। यह विविंश नृपति पद प्राप्त करने पर अपने पूर्वजों की यश-श्री में वृद्धि करने वाला ही सिद्ध हुआ। उसके राज्य में सम्पूर्ण धरती जन, धन-धान्यादि से भर गई। धर्म की ध्वजा सदा के समान फहराती रही और अन्त में विविंश वीरगति प्राप्त कर सुधाम-गामी हुआ।

विविंश के पुत्र खनिनेत्र हुए। उनके समान यज्ञकर्त्ता अन्य कोई नहीं हुआ। उसके यज्ञों की संख्या को देखकर गन्धर्व गायन करते थे कि ऐसा यज्ञकर्त्ता न तो भूतकाल में हुआ है और न ही भविष्य में होगा उन्होंने दस सहस्त्र यज्ञों को करके अपना सम्पूर्ण राज्य दान में दे दिया। घोर तपस्यादि द्वारा धन प्राप्त करके भी ब्राह्मणों को दान में दिये, अपने राज्य को छुड़वाया और राजा बनकर पुनः यज्ञकर्म किये और इस प्रकार उसने कुल ७३७६३ यज्ञ सम्पादित किये, किन्तु इतना सब होने पर भी उसको पुत्र-प्राप्ति नहीं हुई। अतः वह मांस-यज्ञ करने का निश्चय कर मृगया हेतु एकाकी वन में चल दिया। वहां दूर-दूर तक भटकता रहा। इसी समय एक मृग उसके पास आया और उसने कहा—राजन! मैं निःसन्तान हूं। आप मेरा वध करके अपना कार्य सिद्ध कीजिए। इसी बीच एक अन्य मृग वहां आया और उसने राजा से निवेदन किया—पुत्र-प्राप्ति हेतु यज्ञ करने के लिए अपुत्र मृग का कोई उपयोग नहीं। मैं अनेक संतानोंकी चिन्ता एवं भरण-पोषणादि के भार से दबा जा रहा हूं। उनके हित साधन एवं कल्याणेच्छा से प्रेरित होकर मैं अन्य सभी प्राणियों के त्राण की कामना करता हूं। हे नृपाधीश! आप मेरा ही वध कर मुझ पर उपकार कीजिये। पहले मृग ने इसका विरोध किया और बोला—राजन्! सुख-सन्तानयुक्त प्राणो सौभाग्यशाली होता है, अतः इसे छोड़ कर आप मुझ निस्सन्तान को ही इस जीवन-यातना से मुक्त करें। द्वितीय मृग बोला—भूपप्रवर! एकाकी प्राणी की चिन्ता अपने तक ही सीमित है। पत्नी-पुत्रादि वाले की चिन्ता बहुविध होती है, अतः मैं यज्ञाहुति में अपने प्राणोत्सर्ग कर पुण्यलाभ की कामना करता हूं। आत्मघात से प्राण त्याग कर मैं पाप का भागी नहीं बनना चाहता।

इस विवाद को सुनकर राजा ने कहा—महानुभावो! मैं इसका

निर्णय कर पाने में असमर्थ हूं कि तुम दोनों में से कौन सत्य पथ पर है किन्तु मैंने अपना विचार बदल लिया है। अब मैं यज्ञ द्वारा नहीं, अपितु घोर तपस्या द्वारा ही पुत्र लाभ का प्रयास करूंगा। यह कहकर राजा गोमती तट पर जाकर तपस्या करने लगा। अपनी कठोर तपस्या से उसने देवराज इन्द्र को प्रसन्न करके उससे पुत्र-प्राप्ति का वरदान प्रदान प्राप्त कर लिया। खनिनेत्र इस वरदान को प्राप्त करके अपने पुर में वापिस आया तथा यथासमय उसे एक पत्ररत्न की प्राप्ति हुई और उसका नाम **बलाश्व** रखा। पिता की मृत्यु के पश्चात् बलाश्व राजा बना। प्रारम्भ में उसने अपने बल से सभी राजाओं को अपने अधीन कर लिया और पराजित राजा माण्डलीक रूप में उसे कर देने लगे, किन्तु शीघ्र ही उन राजाओं ने शक्ति संचित कर बलाश्व को कर देना बन्द कर दिया और अपने को स्वतन्त्र घोषित करके राजा बलाश्व को घेर लिया। सेना और कोश आदि से रहित बलाश्व घोर निराशा में पड़कर और अपने मुंह पर हाथ रखकर तीव्र निश्वास छोड़ने लगा। उन निःश्वासों का चमत्कारी परिणाम यह हुआ कि उनसे अनेक अश्व-रथारूढ़ योद्धा उत्पन्न हुए, जिनसे शीघ्र सारा पुर भर गया। उन महाबली योद्धाओं ने बलाश्व के सभी शत्रु राजाओं को पराजित करके राज्य पर उसकी पुनः प्रतिष्ठा कर दी। पराजित राजा पुनः उसे कर देने लगे। कम्पित करों से सेना को उत्पन्न करने के कारण वे 'करन्धम' नाम से प्रसिद्ध हुए। धर्मज्ञ राजा होने से वह सदा सज्जनों की रक्षा में रत रहता तथा स्वर्ग तक में उसकी कीर्ति गायी जाती थी।

वीरा नाम्नी परम सुन्दरी राजकुमारी ने स्वयम्वर में करन्धम को वरा था। वह महाराज वीरचन्द्र की कन्या थी। इस रानी के गर्भ से ही अवीक्षित नामक पुत्र का जन्म हुआ। इसका जन्म अति शुभ मुहूर्त एवं शुभ लग्न में हुआ था। वृहस्पति और शुक्र के सप्तम तथा चन्द्र के चतुर्थ तथा बुध के ग्यारहवें स्थान में रहते एवं (देखने) के कारण वह राजकुमार अति भाग्यशाली हुआ तथा इसी कारण उसे अवीक्षित नाम से पुकारा गया। शनि, रवि आदि की कुदृष्टि उस पर नहीं थी। कालान्तर में वह महाबली व अजेय राजा बना। उसने कण्वपुत्र से शस्त्र-विद्या का ज्ञान प्राप्त किया था।

अवीक्षित रूप में अश्विनीकुमारों, बुद्धि में वाचस्पति, कान्ति में चन्द्र, तेज में रवि धीरज में सागर तथा सहनशीलता में धरती से भी बढ़कर थे। हेम-धर्मजा बरा, सुदेवजा गौरी, वीर-भद्रजा निभा, भीमजा मानवती,

वलिजा सुभद्रा, वीरजा लीलावती तथा दम्भजा कुमुद्वती ने इसे स्वयं-वर में वरा था। जिन राजकुमारियों ने उसका वरण नहीं किया, अवी-क्षित ने अनेकानेक राजाओं व राजकुमारों की उपस्थिति में उनका बल-पूर्वक अपहरण कर उन्हें अपनी रानी बनाया। यह देखकर राजाओं को क्रोध हो आया और उन्होंने सोचा — हमारा क्षत्रियत्व व्यर्थ है। हमारे जीवन को धिक्कार है जो यह एक अकेला हमें इस प्रकार ललकार कर अपमानित कर रहा है। चारणों द्वारा हमारा प्रशस्ति-गायन एवं हमारी भूप-संज्ञा मिथ्या है। हम मृत्यु से भयभीत होकर युद्ध से विमुख हो रहे हैं। इस प्रकार परस्पर कहते हुए उत्साहयुक्त होकर सभी नृपति अश्वा-रूढ़, रथारूढ़ तथा पदाति रूप में सन्नद्ध होकर शीघ्र ही उस परम पराक्रमी अवीक्षित के निकट युद्ध भाव से जा पहुंचे।

मार्कण्डेय जी बोले—द्विजश्रेष्ठ! उन सब नृपतियों को इस प्रकार युद्धोन्मत्त देखकर अवीक्षित भी संग्राम हेतु तत्पर हुआ। वह एकाकी ही अनेक राजाओं की सेना से युद्ध करने लगा। तुमुल युद्ध में अनगिनित योद्धा वीरगति को प्राप्त हुए। कई मरणासन्न एवं छिन्नांग हो गये। कई युद्ध भूमि से पलायनकर गये। वीरबाहु राजा अवीक्षित शत्रुओं को विक्रान्त काल के समान दृष्टिगोचर हुए। आत्म पराजय से क्षुब्ध सात सौ क्षत्रिय वीरों ने लज्जावश रणक्षेत्र न छोड़ने तथा अपने प्राण त्याग देने का निश्चय करके प्रचण्ड युद्ध आरम्भ कर दिया। इसमें भी जब उन्हें विजय न दीख पड़ी तो वे अधर्म-युद्ध करने लगे। इस अधर्म-युद्ध से उन्होंने अवीक्षित को घायल करके बन्दी लिया। राजा विशाल—जिनकी राजकुमारी के स्वयंवर के समय यह सब विघ्न हुआ था—उसे अपने निवास पर ले गये। विशाल ने अपनी पुत्री से कहा—पुत्रि! अब तू जिसे चाहे उसे जयमाला पहना दे, किन्तु वह सहमत नहीं हुई। तब विद्वान ज्योतिषियों से विचार-विमर्श के उपरान्त उस समय को अशुभ पाकर नृपति ने स्वयंवर की तिथि बाद में निर्धारित करने का निश्चय किया।

उधर राजा करन्धम को अपने पुत्र अवीक्षित के इस प्रकार अधर्म-युद्ध में पराजित होने एवं बन्दी बनाये जाने का समाचार प्राप्त हुआ तो उन्होंने इस सम्बन्ध में मन्त्रियों एवं नीति-विशारदों से विचार-विमर्श किया। उनमें से कुछ ने अधर्म-युद्ध की तथा अन्य कुछ ने राजकुमार अवीक्षित के बलात् कन्या अपहरण की निन्दा की। तब वीरभाव युक्त एवं हर्षितमना रानी वीरा ने अपने पुत्र के शौर्य, पराक्रम तथा पौरुष की प्रशंसा करते हुए उसके क्षत्रियत्व पर गर्व तथा गौरव प्रकट किया।

उसने राजा को दुष्ट, अधर्मी राजाओं तथा उनके नायक विशाल को दण्ड देने के लिए प्रोत्साहित किया। इस पर करन्धम ने बड़ी सेना लेकर विशाल राज्य पर आक्रमण कर दिया। तीन दिन के युद्धोपरान्त विशाल की पराजय हुई। उसने राजकुमार अवीक्षित को बन्धन-मुक्त कर दिया तथा अर्घ्य एवं कन्या को लेकर राजा की सेवा में उपस्थित हुआ। उसने अपनी पुत्री से कहा—अब तुम इस वीर राजकुमार को पतिरूप में वरण करो, किन्तु अवीक्षित अपनी पराजय से क्षुब्ध था, अतः उसने राजपुत्री को ग्रहण करना अस्वीकार कर दिया। पिता तथा राजा विशाल के बारम्बार समझाने तथा स्वयं राजकुमारी द्वारा अनुरोध किए जाने पर भी वह अपने निश्चय पर दृढ़ रहा। तब विशाल ने राजकुमारी से किसी अन्य राजकुमार को वरण करने के लिए कहा, किन्तु उसने एक कुलांगना के अनुरूप अपना चरित्र एवं शील प्रकट करते हुए कहा—यदि ये मुझे स्वीकार नहीं करते तो मुझे तपस्या ही वरणीय है। इसके पश्चात् राजकुमार अवीक्षित अपने पिता और सैन्य सहित अपने राज्य को लौट गया और राजकुमारी भी बन्धु-बान्धवों से विदा लेकर वन में तपस्या करने लगी। घोर तपस्या से राजकुमारी का शरीर इतना क्षीण हो गया कि वह मरणासन्न हो गई। उसकी यह दशा देखकर देवताओं ने एक दूत उसके निकट भेजा। उसने राजकुमारी से कहा—सुन्दरि ! मुझे देवताओं ने भेजा है तथा तुमसे प्राण त्याग न करने को कहा है। तुम्हारे गर्भ से महान एवं परम पराक्रमी मनु का जन्म होगा, जो देवारि, तरुजित तथा अयःशंकु का विनाश करेगा। इस पर राजकुमारी ने उससे कहा—अवीक्षित मुझे अपनाने को उद्यत नहीं है, किसी अन्य के वरण को मैं प्रस्तुत नहीं फिर मैं कैसे मनु प्रसविनी बन सकती हूं ? देवदूत ने उत्तर दिया—भक्ति की बड़ी महिमा है और इतना कहकर वह देवताओं के पास लौट गया। इसके पश्चात् राजकुमारी भी अपनी क्षीण काया की यत्नपूर्वक रक्षा करने लगी।

राजा करन्धम धर्मनिष्ठा एवं नीतिपूर्वक शासन करते रहे। एक बार रानी वीरा ने किमिच्छिक उपवास का निश्चय किया। उसने राजा से अर्धकोश व्यय करने की आज्ञा प्राप्त कर ली। स्वयं क्लेश सहन करने को तत्पर होकर रानी ने अपने पुत्र से कहा कि इस असाध्य व्रत को करने में मेरे सहायक होने का वचन यदि तुम मुझे दे सको तो मैं यह उपवास प्रारम्भ करती हूं। राजकुमार ने माता को वचन दे दिया। तदुपरान्त रानी अपने पुण्य कृत्य में प्रवृत्त हो गई। मन्त्रियों ने राजा से कहा—महा-

राज ! राजकुमार अवोक्षित के नारी मात्र से दूर रहने के कारण आप पौत्र-हीन हैं, अतः आपको भविष्य में दुःख प्राप्ति हो सकती है, क्योंकि पौत्रहीन होने के कारण पितर आदि जलतर्पण आदिसे रहित तथा क्षोण रहेंगे। इसपर राजा एक अर्थी के रूप में राजकुमार के निकटपहुंचा तथा उससे वचन लेकर विवाह करने का अनुरोध करने लगा। राजकुमार बड़े धर्मसंकट में पड़गया किन्तु अब उसके सामने इससे उबरने का कोई मार्ग नहीं रहा, अतः उसे पिता की बात माननी पड़ी। अनन्तर वह हिंस्र पशुओं का आखेट करने जंगलों में चला गया। वहां उसने किसी नारी का करुण आर्त्तनाद तथा 'बचाओ-बचाओ' का स्वर सुना तो अपने अश्वपर आरूढ़ राजकुमार अवीक्षित अतिवेग से दौड़कर जब उसके निकट पहुंचा तो उस ने देखा कि एक रत्नाभरण-सज्जित सुन्दरी को दनुज दृढ़केश अपहृत करने का प्रयत्न कर रहा है। वह सुन्दरी अति स्वर में कह रही है--नीच ! मुझे छोड़ दे। मैं परम शूरवीर करन्धम की पुत्रवधू तथा राजकुमार अवीक्षित की भार्या हूं। क्या तुझे उनका भय नहीं ? यह सुनकर राज-कुमार को विस्मय तो हुआ किन्तु उस सुन्दरी की रक्षा के विचार ने उस के विस्मय पर विजय पा लो और उसने उस नीच दनुज को ललकारा। कुछ काल तक दोनों में तुमुल संघर्ष हुआ जिसमें अन्ततः दनुज दृढ़केश मारा गया।

राजकुमार ने उस सुन्दरी से उसका परिचय पूछा तो उसने कहा—महोदय! मैं विशालराजकी कन्या हूं। आपके द्वारा विवाह हेतु स्वीकृत न किये जाने के बाद से मैं तपस्या करती रही हूं। सम्पूर्ण वृत्तान्त कह सुनाने के पश्चात् वह पुनः बोली—परसों मैं गंगा-गह्वर में स्नान कर रही थी कि एक वृद्ध नाग मुझे लपेटकर पाताल लोक ले गया, जहां सब नाग एवं नागि-नियों ने मेरी पूजा-अर्चा की तथा मेरे भावी पुत्रसे अपनी जाति के लिए अभयदान कीप्रार्थना कीं। मैंने उनकी प्रार्थना स्वीकारकरली। तब उन्होंने मुझे सब प्रकार के अलंकार वस्त्रादि से सजाया और पुनः यहां छोड़ दिया। मेरे उस रूप पर मुग्ध हो यह दनुज मेरा अपहरण कर रहा था। आपने उस से मेरी रक्षा कर मेरे प्रति बड़ा उपकार किया है। यह वृत्तान्त सुनकर राजकुमार ने उस सुन्दरी से पूछा—अब तुम्हारा क्या विचार है ? उस अपरिचितको अपना इष्ट जनपाकर सुन्दरी बोली—हमें अभी औरयहीं विवाहसूत्र में निबद्ध हो जाना चाहिये। तभी वहां तनयनामक एकगन्धर्व आया। उसने कहा—यह मेरी भामिनी कन्या है। पूर्वजन्म में बाल-चापल्य के कारण इसने एक ऋषि में कम्पन उत्पन्न कर दिया था। तब

ऋषि ने इसे मानवी होने का शाप दिया था। परिणामतः यह विशाल-राज की कन्या के रूप में उत्पन्न हुई है। यह कहकर तनय ने अपने कुल-गुरु तुम्बरू का स्मरण किया। कुलगुरु तुम्बरू के साथ अनेक गन्धर्व भी वहां एकत्रित हो गये। तब बड़े उल्लास-उत्सव एवं विधि-विधानपूर्वक उनका विवाह सम्पन्न हुआ। नव-दम्पती तनय गन्धर्व के साथ उसके लोक में पहुंचे। वहां उन दोनों ने बड़े ही सुख तथा आनन्दपूर्वक अपने दिन व्यतीत किए। कालान्तर में उनका एक पुत्र हुआ। सभी गन्धर्वों ने उसके जन्म पर आनन्द तथा उल्लास मनाया। गन्धर्वलोक का वाता-वरण उत्सवों से मादक हो गया, तब तुम्बरू ने आकर उस शिशु का जात-कर्म किया और आशीर्वाद दिया—तुम चक्रवर्ती सम्राट बनो। सभी देव किन्नर, गन्धर्वादि तुम्हारे प्रति उदार व कृपावान बने रहें। पूर्वी मरुत तुम्हारा मंगल विधान करे, पश्चिमी मरुत तुम्हें महावीर बनाये, उत्तरी मरुत तुम्हें उत्कृष्ट बली तथा दक्षिणी मरुत तुम्हारी अनुकूलता में स्थित हो। इसी मध्य आकाशवाणी हुई—हे महर्षे! आपने बारम्बार मरुत शब्द का उच्चारण किया है, अतः यह शिशु मरुत्त नाम से लोकप्रिय व विश्व-विख्यात होगा।

कुछ दिन गन्धर्वपुरी में रहने के पश्चात् राजकुमार अपनी भार्या, पुत्र तथा कुछ गन्धर्वों सहित अपने पिता के पास वापिस आया। उसने पुत्र को पिता के अंक में रख दिया और कहा—माता के 'किमिच्छिक उपवास' के प्रारम्भ के समय दिए गए वचन को पूर्ण करते हुए मैंने आपकी गोद में यह पौत्र रख दिया है। यह कहते हुए राजकुमार ने महाराज करन्धम को सारा वृत्तान्त कह सुनाया। आनन्दाश्रु वर्षण करते हुए राजा ने सभी अतिथि गन्धर्वों का स्वागत-सत्कार किया। इस प्रकार सब भांति पूर्णकाम होकर करन्धम ने अपनी वृद्धावस्था में वानप्रस्थाश्रम की तैयारी की। उसने पुत्र को राजगद्दी सौंपनी चाही, किन्तु पुत्र अधर्म युद्ध में अपनी पराजय तथा पिता द्वारा अपनी मुक्ति की ग्लानि को भुला नहीं पाया था। वह स्वयं को स्त्रीवत् अशक्त तथा शासन के अयोग्य समझता था, अतः उसने शासन का भार वहन करना अस्वीकार करके वानप्रस्थी बनने का निश्चय किया। अन्त में करन्धम ने मरुत्त को राज्य प्रदान किया और सपत्नीक वन को चला गया। एक सहस्त्र वर्षपर्यन्त तप करने के उपरान्त वह मृत्यु को प्राप्त हो अमरलोक वासी हुआ तथा उसके सौ वर्ष उपरान्त उसकी साध्वी सुभार्या भी पतिमिलन की इच्छा लिए हुए उसी लोक में जापहुंची।

कौष्टुकि ने कहा—भगवन् ! आपसे करन्धम व अवीक्षित का सम्पूर्ण वृत्तान्त सुनकर मैं कृतकृत्य हुआ हूं ! अब मेरे मन में मरुत्त के विषय में पूर्ण वृत्त जानने की अभिलाषा जाग्रत हुई है। आप मुझे उपकृत करने की कृपा करें। मार्कण्डेय जी बोले - ब्राह्मणश्रेष्ठ ! मरुत्त सर्वाधिक सफल तथा धर्मात्मा चक्रवती राजा हुआ। उसने सहस्रों यज्ञ करके इन्द्र से भी उच्च पद प्राप्त किया। उसके युग में धर्म, अर्थ, काम आदि सभी की अश्रुतपूर्व अभिवृद्धि हुई। सभी वर्ण निज-निज धर्मपालन में सदा सद्भाव से निरत रहते थे। सभी सानन्द एवं चिन्ताहीन थे किन्तु एक दिन महाराज के पास एक तापस आया। उसने कहा—महाराज ! मुझे आपकी मातामही दादी ने भेजा है। उन्होंने कहा है कि तुम्हारे शासन में वह हुआ है जो तुम्हारे पितरों के शासन में कभी नहीं हुआ। तुम्हारे राज्य में नागों ने पाताललोक से आकर सात तापस ऋषियों को डसा है। स्व मल-मूत्रादि त्याग द्वारा सरिता आदि के सलिल को दूषित किया है, किन्तु तुम्हें इस विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं। इसका कारण यह है कि तुम्हारी गुप्तचर व्यवस्था शिथिल है। तुम्हें सुराज्य के निमित्त गुप्तचर पर गुप्तचर को, मंत्रियों तथा अन्य अधिकारियों पर भी गुप्तचरों को लगाना चाहिये। मैं यह सब तुम्हारी मातामही होने के कारण कह रहा हूं। वैसे तुम जैसा उचित समझो, वैसा ही करो। तापस यह कहकर चला गया।

नृपति मरुत्त को यह सुनकर बड़ा दुःख और क्षोभ हुआ। उसने सोचा—हाय ! अपने सुख के लिए मैंने क्लेश सहन न करके जनसेवा से जी चुराया है, किन्तु अब मैं बद्ध-परिकर होकर जनता के क्लेश निवारण में लग जाता हूं। यह निश्चयकर वह भार्गवाश्रम में पहुंचा। वहां तापस-कुमारों के नाग-दंशित शवों को देखकर उसके क्रोध की सीमा न रही। वह क्रोधाभिभूत होकर संवर्तक-अस्त्र साध कर सम्पूर्ण नागजाति के संहारार्थ उद्धत हो गया। नागों का विनाश होने लगा तो वे 'त्राहि-त्राहि' कर उठे। उनमें से अनेक मरुत्त की जननी भामिनी की शरण में गये क्योंकि उन्होंने उन्हें 'अभयदान' देने का वचन दिया था। भामिनी ने अपने पति अवीक्षित से कहा—आप अपने पुत्र को इस संहार से रोकिए क्योंकि जो मेरा शरणागत है वह आपका भी शरणागत है। भामिनी की प्रार्थना स्वीकार करके अवीक्षित भी वहीं पहुंचा जहां उसका पुत्र नागों के संहारकार्य में रत था। पिता ने पुत्र से बारम्बार अस्त्र संहार कर नागों का विनाश रोकने को कहा, किन्तु राजधर्म तथा राज-

कर्तव्य का उल्लेख करके पुत्र ने ऐसा कर सकने में अपनी असमर्थता प्रकट की। तब क्रुद्ध होकर पिता ने शरणागत की रक्षा का व्रत लेकर कालास्त्र धारण करते हुए पुत्र को ललकारा। एक ओर राजधर्म और दूसरी शरणागत की रक्षा का व्रतधारी पुत्र-पिता एक दूसरे के प्राणहन्ता तक बनने को तत्पर हो गये। इस विकट स्थिति को देखकर भार्गवादि ऋषि गण वहां पहुंचकर दोनों के मध्य खड़े हो गए और बोले—हम भुजंग दंशित तापसों को पुनर्जीवित करने को तत्पर हैं, अतः यह विनाश-लीला व्यर्थ है। आप दोनों प्रसन्न होइये। इसी बीच वीरा भी वहां आ पहुंची और उसने भी उद्देश्यप्राप्ति हो जाने से संघर्ष की व्यर्थता स्वीकार की तथा भामिनी ने भी इस संघर्ष को रोक देने की प्रार्थना की। तब पुत्र ने माता-पिता को प्रणाम किया एवं पिता ने पुत्र का आलिंगन करके उसे सदा प्रजा सेवारती, धर्मज्ञ तथा कर्त्तव्यपरायण बने रहने का आशीर्वाद दिया। तदन्तर वह सपत्नीक पुर को वापिस चला गया तथा वीरा तपस्या करने के उद्देश्य से पतिलोक को चली गई।

राजा मरुत्त की अनेक रानियों से अठ्ठारह (१८) पुत्रों का जन्म हुआ, जिनमें ज्येष्ठ 'नरिष्यन्त' ही प्रसिद्ध हुआ। वास्तव में महाराज मरुत्त सात द्वीपाधिपति, परम यशस्वी एवं धर्मात्मा नृपति थे, जिसका गुणानुवाद सब फलप्रदायी है। इन्होंने ७००१५ वर्षपर्यन्त शासन किया और तदुपरान्त तपस्या करते हुए अपूर्व दिव्य लोक के भागीदार बने। उसने मन में विचार किया कि मैं अपने पूर्वजों से कौन-सा भिन्न काम करूं जिसमें कोई विशेषता हो। अन्त में उसने अभूतपूर्व यज्ञ करने का निश्चय किया। इस यज्ञ में उसने इतना अधिक दान दिया कि सभी ब्राह्मण अयाचित हो गए और उन्हें पुनः यज्ञ का आयोजन करने पर कोई भी होता उपलब्ध न हो सका। अन्त में अत्यधिक अनुनय-विनय के पश्चात ही उसे यज्ञ करने वाले ब्राह्मणों की प्राप्ति हुई किन्तु वे सभी स्वयं यजमान ही थे। उस महान् राजा नरिष्यन्त के समय में नवासी कोटि यज्ञ हुए, इनमें से एक ही समय में अठारह करोड़ पश्चिम दिशा में, सात करोड़ पूर्व दिशा में तथा दक्षिण और उत्तर दिशाओं में क्रमशः चौदह और पचास करोड़ यज्ञ हुए।

नरिष्यन्त के पुत्र का नाम दम था जो इन्द्रसेना के गर्भ से उत्पन्न हुआ था। जब यह मातृगर्भ में था तो इनकी जननी को इन्द्रियदमनपूर्वक रहना पड़ा था, अतः ज्ञानी पण्डितों ने इनका नाम दम रख दिया। दम ने वृषपर्वा से धनुर्वेद, दुन्दुभि से अस्त्र-प्रयोग, शक्ति मुनि से सम्पूर्ण वेद-

वेदांग तथा आर्ष्टिषेण से योग-शिक्षा ग्रहण की थी। चारुकर्मा की कन्या सुमना ने इसे स्वयंवर में वरा था। इसने इस स्वयंवर में आए हुए विरोधी राजाओं को समझाने का पूर्ण प्रयत्न किया, जो राक्षस विवाह का अनुमोदन करते हुए उसकी पत्नी को अपहृत करने को उद्यत थे किन्तु जब उन्होंने उसके तर्क को स्वीकार नहीं किया तो उसे भी क्रोध आ गया और वह युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गया। महानन्द नामक राजा से उसका महा भयानक युद्ध हुआ, जिसमें अंततः महानन्द मारा गया और तब अन्य शेष राजा तो वहां से भाग गए, लेकिन वपुष्मान ने फिर भी दम से युद्ध ठान लिया। दोनों में भयानक तथा तुमुल, युद्ध होता रहा और अन्ततः वपुष्मान पृथ्वी पर गिर पड़ा। इस प्रकार विजयलाभ कर और सुमना से विधिपूर्वक विवाह करके दशार्णापुर में कुछ काल तक रहा और फिर अतुल धन, रत्न, गौ, रथ आदि दहेज रूप में प्राप्त करके अपने पुर को लौट आया। श्वसुर राजा ने उसे बड़े सम्मान के साथ विदा किया।

दम सुमना और दहेज में प्राप्त सामग्री सहित अपने पुर में पहुंचा। वहां उसने अपने माता-पिता को तथा सुमना ने सास-श्वसुर को प्रणाम करके उनका आशीर्वाद प्राप्त किया। पुत्र की शौर्यगाथा सुनकर नृपति नरिष्यन्त का हृदय आनन्दातिरेक से गद्‌गद हो गया और उन्होंने हर्षोल्लास सहित राज्य व्यापी उत्सव मनाने का आदेश दिया तथा सब प्रकार से धर्म, अर्थ और काम की प्राप्ति के उपरान्त कालान्तर में वयोवृद्धता को प्राप्त होने पर राजा नरिष्यन्त अपने पुत्र दम को राज्य सौंप कर रानी इन्द्रसेना सहित वन में तपस्या करने चला गया। दम न्याय एवं धर्मपूर्वक शासन करने लगा।

राजा नरिष्यन्त अपनी पत्नी इन्द्रसेना सहित जिस वन में तपस्या कर रहा था एक दिन वहीं वपुष्मान् आखेट करता हुआ जा पहुंचा। इन्द्रसेना को मलिन वेश में देखकर वपुष्मान ने उससे उसका परिचय पूछा। मौनव्रत-धारी राजा तो उसे कुछ न बता पाये किन्तु रानी इन्द्रसेना ने उसे अपना सम्पूर्ण परिचय दे दिया। इस पर उस दुष्ट ने दम से अपना पुराना वैर विचारते हुए तापस जीवन यापन कर रहे वृद्ध नरिष्यन्त का वध कर दिया। उसके इस जघन्य कृत्य से सभी ऋषि-मुनियों ने उस नीच को बहुत धिक्कारा। इन्द्रसेना ने सकरुण विलाप करते हुए एक तापस को पुत्र के पास भेजा। उसने तापस से कहा—कि राजा से कह देना कि तुम्हारे कुशासन के कारण ही यह दुष्कृत्य हुआ है। तुम्हें अपने पिता की मृत्यु का प्रतिशोध उसी प्रकार लेना है जैसे जम्भासुर ने

तथा ऋषि पाराशर ने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लिया था। अधिक मैं और क्या कहूं, तुम स्वयं जैसा उचित समझो वैसा करो। यह सन्देश देकर इन्द्रसेना पति के शव के साथ चिताग्नि में भस्म हो गई।

तापस ने सारा वृत्तान्त दम को यथावत् कह सुनाया तो उसका सर्वांग ही मानो क्रोध से कांप उठा। इस शोक समाचार से सारे राज्य में हाहाकार मच गया। दम ने प्रतिज्ञा की कि मैं या तो उस नीच, पापी, वपुष्मान का वध कर उसके रक्त से पितृ-तर्पण व मांस से पिण्डदान तथा राक्षस ब्रह्मभोज करूंगा अन्यथा स्वयं जीवित ही अग्नि में समा जाऊंगा। इस प्रतिज्ञा के साथ दम फुंकारते हुए नाग के समान क्षुब्ध अवस्था में दक्षिण की ओर चल दिया। वहां उसकी सेना का वपुष्मान की सेना से अति विकट संग्राम हुआ। गज से गज, अश्व से अश्व, पादातिक से पादातिक और रथी से रथी जूझ पड़े। वपुष्मान् का सेनापति दम से युद्धरत था। दम ने उसका हृदय विदीर्ण करके उसे चिर-निद्रा में सुला दिया। यह देखकर वपुष्मान समेत सारी सेना भाग खड़ी हुई। दम ने उसे ललकारा तो वपुष्मान् युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गया। दोनों योद्धा एक-दूसरे के प्राण के प्यासे हो रहे थे किन्तु अन्त में दम की विजय हुई। उसने वपुष्मान् का हृदय चीरकर उसका रक्त-पान करना चाहा, किन्तु देवताओं ने उसे ऐसा करने से रोक दिया। तब उस नृपपि ने उस नीच के रक्त से अपने पिता का तर्पण किया तथा मांस से पिण्ड दान देकर राक्षस ब्राह्मणों को भोजन कराया।

मार्कण्डेय जी ने क्रौष्टुकि से कहा—हे द्विजराज ! ऐसे-ऐसे अनगिनित नृपति सूर्यवंश में हो गये हैं। उनका माहात्म्य ही सब पातकों का हारक है। यह वृत्तान्त सुनाने के बाद मार्कण्डेय जी ने ब्राह्मण क्रौष्टुकि को विदाई दी।

पक्षियों ने जैमिनी ऋषि से कहा—महर्षे ! हमने आपके चारों प्रश्नों के उत्तर अन्य प्रसंगों के साथ विस्तारपूर्वक दे दिए हैं। इसे सुनने-पढ़ने से मानव सब पापों से मुक्त होकर ब्रह्मलीन हो जाते हैं। ब्रह्मा ने स्वयं १८ पुराणों का बखान किया था। वे ब्राह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारदीय, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ व ब्रह्माण्ड के नाम से प्रसिद्ध हैं। मार्कण्डेय पुराण क्रम में सातवां है। सर्ग, प्रतिसर्ग, देशवर्णन, मन्वन्तर तथा वंशानुचरित पुराण के पांच लक्षण हैं। इस पुराण के श्रवण-पाठनादि से सौ करोड़ कल्पों के किए पाप नष्ट हो जाते हैं। इससे ब्रह्महत्या आदि से छुटकारा

मिलता है और पुष्कर में दान करने तुल्य पुण्यलाभ होता है। इसका पूर्ण पाठ सम्पूर्ण वेदों की पूर्णता के तुल्य है। शुद्ध मन से लोभ-मोहादिरहित होकर इसका कीर्तन-श्रवण करने से ही पूर्ण फल मिलता है। यह अन्यतम पुराण है। इसमें छः हजार नौ सौ श्लोक हैं। इन्हें महर्षि मार्कण्डेय ने कहा है।

जैमिनी ऋषि ने यह सुनकर पक्षिराजों की प्रशंसा में अपना शीश झुकाया और बोले—आपकी पक्षी-योनि अभिशाप नहीं, अपितु जन-कल्याण की दृष्टि से वरदान है। आपने मेरी उन समस्याओं एवं प्रश्नों का भी समाधान कर दिया जिनका हल महाभारत में भी नहीं मिला था। यह कहकर जैमिनी अपने आश्रम को लौट गये।

॥ **समाप्त** ॥

वेद नित्य और शाश्वत ईश्वरीय ज्ञान है, जिसे ऋषियों ने हमारे लिये सुलभ किया। अनन्त ज्ञानराशि का भण्डार—वेद—सभी विद्याओं और कलाओं का आदि स्रोत और धर्म का मूल हैं, पर समय के साथ-साथ जब वेद सर्वसाधारण के लिये दुर्बोध हो गये तो उन्हें सुबोध और सर्व-जनग्राह्य बनाने की शुभ परम्परा आरम्भ हुई। पुराण इसी परम्परा का एक चरण है।

पुराणों में सभी शास्त्रों, विद्याओं और कलाओं तथा इतिहास, भूगोल एवं साहित्य आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। ज्ञान-विज्ञान के अनुपम भण्डार—पुराण—वास्तव में वेदों के सहायक ग्रन्थ हैं और भारतीय संस्कृति का ऐसा विश्व-कोष हैं जिनसे सामान्य व्यक्ति का सर्वतोमुखी विकास हो सकता है।

शुद्ध तथा सरल हिन्दी भाषा में पुराणों का यह अनुवाद अनुभवी विद्वानों एवं सम्पादकों द्वारा किया गया है ताकि संस्कृत भाषा न जानने वाले व्यक्ति भी इससे लाभ उठा सकें।